शांति की ओर

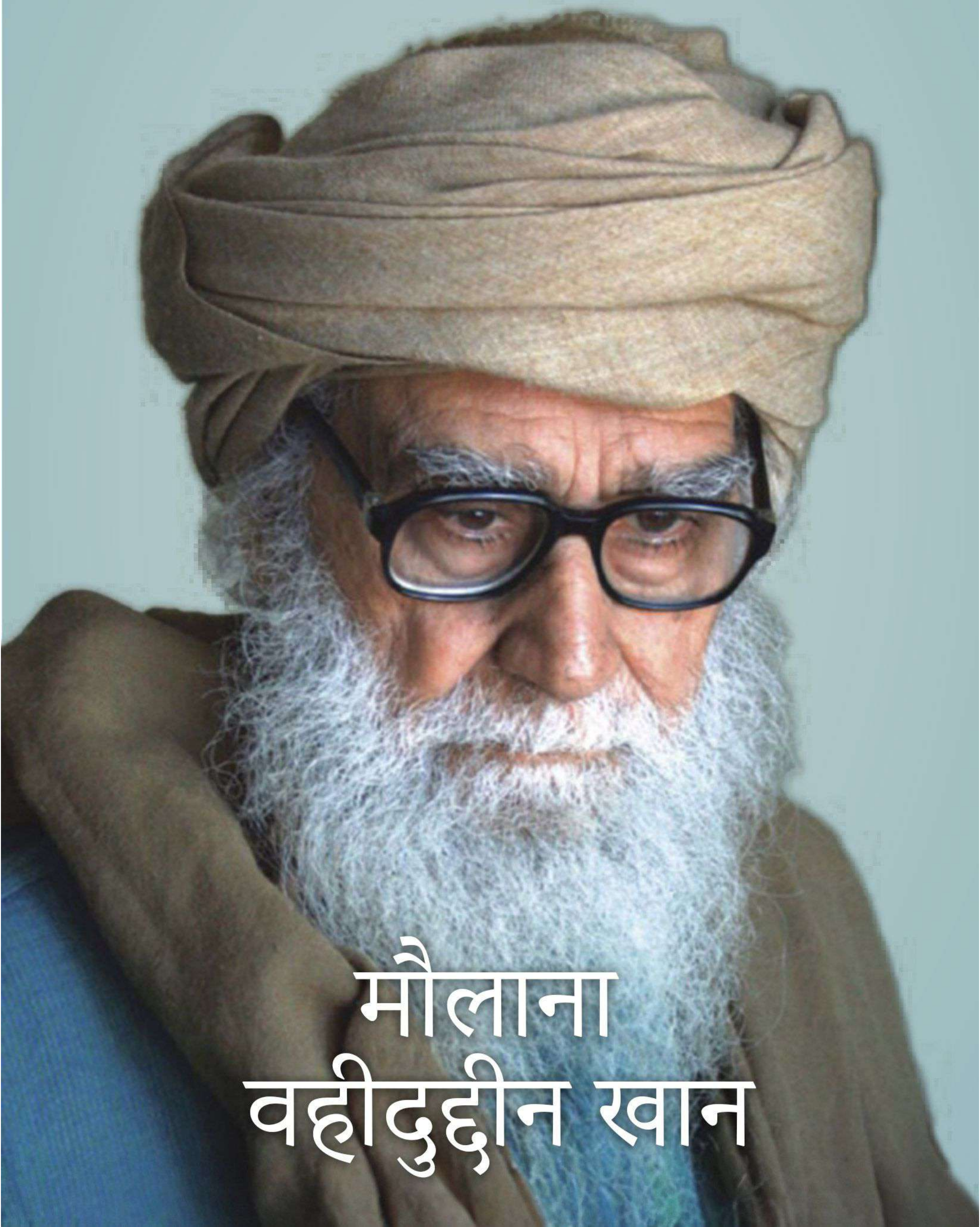

मौलाना
वहीदुद्दीन खान

शांति की ओर

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान

अनुवाद
मुहम्मद ख़ादिम

संपादन टीम
मोहम्मद आरिफ़
ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी
मौलाना फ़रहाद अहमद
इमरान अहमद इस्लाही

Hindi Translation of Urdu Book – ***Aman-e-Alam***

Also translated in English as **Islam and World Peace**

First published in 2020

Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013, India.
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

Goodword Books
1, Nizamuddin West Market
New Delhi-110013
Tel. +9111-41827083
Mob. +91-8588822672
email: info@goodwordbooks.com
www.goodwordbooks.com

Copyrights

This book is copyright free and royalty free. It can be translated, reprinted, stored or used on any digital platform without prior permission from the author or the publisher. It can be used for commercial or non-profit purposes. However, kindly do inform us about your publication and send us a sample copy of the printed material or link of the digital work. Email: info@goodwordbooks.com

विषय-सूची

भूमिका 5

शांति और इस्लाम 9

- क़ुरआन और हदीस में शांति की शिक्षा 9
- पैग़ंबर-ए-इस्लाम का नमूना 11
- जंग एक राज्य का कार्य 13
- शहीद और आक्रमणकारी का अंतर 14
- जंग एक अवांछनीय चीज़ 15
- जंग के बग़ैर विजय 16
- जंग करना जंग की समाप्ति के लिए 17
- शांति की ताक़त 21
- एक भ्रम की स्पष्टता 22
- इस्लाम में आतंकवाद नहीं 23
- जिहाद का विचार इस्लाम में 24
- मौजूदा ज़माने के जिहादी आंदोलन 31
- बहस का सारांश 34

अमन कल्चर 35

- अमन क्या है? 35
- सृष्टि का धर्म शांति है 36
- क़ुरआन एक शांति की किताब 37
- शांति और हिंसा में अंतर 37
- सुलह बेहतर है 39
- धरती मे फ़साद नहीं 40

साज़िश का ख़ात्मा 41

- चरमपंथ नहीं 42
- एक इंसान की हत्या सारी इंसानियत की हत्या 42
- हिंसा की आग बुझाना 43
- सुधार के बाद फ़साद 44
- एराज़ न कि टकराव 45
- सब्र तरक़्क़ी का राज़ 46
- विवाद नहीं 46
- जंग केवल रक्षा के लिए 47
- धैर्य का तरीक़ा समर्थन प्राप्त तरीक़ा 48
- शांतिपूर्ण सैद्धांतिक प्रचार 49
- दुश्मन को दोस्त बनाना 50
- स्वयं अपने कर्म का परिणाम 51
- ग़ुस्सा एक कमज़ोरी 52
- सत्य पर धैर्य के साथ जमना 52
- शांति का मूल्य 53
- सुलह की पेशकश को स्वीकार करना 55
- ज़्यादा बड़ा रिज़्क 56
- शांतिप्रियता सुरक्षा का द्वार 57
- इंसानों के लिए कृपा 58
- जिहाद शांतिपूर्ण अमल का नाम है 60
- हर हाल में अमन 61
- ईश्वर का नाम सलामती 62
- ताक़तवर कौन 62
- सामाजिक अमन का फॉर्मूला 63
- ख़ामोशी में मुक्ति 64
- दुश्मन से टकराव नहीं 65
- अहिंसा का तरीक़ा 66
- मतभेद की सीमा 67
- शांतिपूर्ण कार्य-शैली ज़्यादा बेहतर 68
- लचक का तरीक़ा, न कि अकड़ का तरीक़ा 69
- शांतिपूर्ण नागरिक 69
- प्रतीक्षा भी समाधान है 70
- ईश्वरीय चेतावनी, न कि इंसानी ज़ुल्म 71
- ख़ामोशी की ताक़त 72
- हिंसा निराशा का परिणाम 72
- सकारात्मक स्टेटस कोइज़्म 73

- हिंसा का कोई औचित्य नहीं 74
- दुश्मनी की समस्या का समाधान 75
- हथियार जमा करना बेफ़ायदा 75
- अंतरात्मा बेहतरीन जज है 76
- जीत भी हार है 78
- शिकायत को तुरंत समाप्त करना 78

जंग और अमन : इस्लाम में 80

हुदैबिया संधि 89

हिंसा का इस्लामीकरण 91

आतंकवाद क्या है? 94

फ़तह मुबीन का राज़ 97

इस्लाम के नाम पर ग़ैर-इस्लाम 100

- इस्लामी व्यवस्था 101

इस्लामी जिहाद 102

- हाईजैक करना 103
- असल ज़िम्मेदार 104
- करने के असल काम 105
- इस्लामी जिहाद 106
- जिहाद शब्द कोश में 107
- जिहाद क़ुरआन में 108

दुश्मन और हमलावर में अंतर 110

शांति का धर्म 113

- जिहाद क्या है? 116
- मुश्किल में आसानी 118
- इस्लाम में जिहाद की कल्पना 119
- क्या इस्लाम हिंसा की अनुमति देता है 122
- इस्लाम और आतंकवाद 124
- सैनिक काल से असैनिक काल तक 126
- एक हदीस 129
- इस्लाम इक्कीसवीं शताब्दी में 132

जंग इस्लाम में 135

- एक अध्ययन 136

अमन संयुक्त समाज में 140

- धार्मिक मतभेद 142
- संस्कृति में मतभेद 145
- धर्म और राजनीति 147
- उत्तरी भारत व दक्षिणी भारत का अंतर 149
- राष्ट्र और राष्ट्रीयता 150
- कुफ़्र और काफ़िर की कल्पना 153

हाईजैकिंग एक अपराध 160

कश्मीर में शांति 164

- कश्मीरी नेतृत्व 166
- प्रकृति का सबक़ 168
- नासमझी का तरीक़ा 170
- यथार्थवादी बनिए 174
- राजनीतिक टकराव से बचना 176
- नीति की माँग 178
- शांति और न्याय 179
- इस्लामी आंदोलन नहीं 181
- संभव की राजनीति 183
- विश्व स्तरीय संभावनाएँ 184
- दोनों की जीत 185
- समाधान की ओर 187
- भारत के दौरे से पूर्व भेजा गया पत्र 194
- ख़ुशगवार आरंभ, नाख़ुशगवार अंत 198
- करने का काम 202
- कश्मीर स्वर्ग का नमूना 205

भूमिका

दृष्टिगत पुस्तक प्रचलित अर्थों में कोई पुस्तक नहीं है। यह लेखों का एक समूह है। मासिक पत्रिका 'अल-रिसाला' में पिछले वर्षों में शांति और इस्लाम के विषय पर जो लेख छपते रहे हैं, उनको इस पुस्तक में एकत्र कर दिया गया है। इन लेखों का उद्देश्य संयुक्त रूप से यह है कि शांति और जंग के संबंध में इस्लाम के बारे में भ्रांतियों को दूर किया जाए और इस विषय पर इस्लाम की सही विचारधारा को स्पष्ट किया जाए।

इस्लाम पूर्ण रूप से एक शांतिप्रिय धर्म है। इस्लाम में शांति की हैसियत सामान्य नियम (general rule) की है और जंग की हैसियत केवल एक अपवाद (exception) की। यह अद्भुत अपवाद हमेशा दूसरों की तरफ़ से विवशतापूर्वक पेश आता है, न कि स्वयं अपनी तरफ़ से एकपक्षीय अग्रसरता (aggression) के रूप में।

इस्लाम का मूल उद्देश्य इंसान की सोच को बदलना है। इंसान के अंदर एकेश्वरवाद के आधार पर एक बौद्धिक क्रांति लाना है। इस हक़ीक़त को एक हदीस* में इस प्रकार बताया गया है:

"आगाह कि इंसान के शरीर में मांस का एक टुकड़ा है। अगर वह स्वस्थ हो तो पूरा शरीर स्वस्थ रहता है और अगर वह बिगड़ जाए तो सारा शरीर बिगड़ जाता है। आगाह कि यह दिल है।"

इस हदीस में दिल से अभिप्राय क्या है? इब्ने हाजर अल-असक़लानी ने लिखा है कि इस हदीस से जो साबित किया गया है कि बुद्धि हृदय के भीतर है, लेकिन यह सही नहीं। हक़ीक़त यह है कि इस हदीस में हृदय से तात्पर्य विचारों का केंद्र नहीं, बल्कि रक्त-प्रवाह का केंद्र है। इस हदीस में हृदय और शरीर का

---

* हज़रत मुहम्मद के कथन, कर्म एवं मार्गदर्शन।

वर्णन बतौर उपमा है यानी जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य हृदय के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, उसी प्रकार धार्मिक जीवन की स्थापना एवं स्थायित्व इस पर निर्भर है कि इंसान के अंदर ज़िंदा ईमान* मौजूद हो।

इंसान के कर्म तभी सही होते हैं, जब उसके विचार सही होते हैं। इसलिए इस्लाम में सारा ज़ोर सही विचारधारा को जीवित करने पर दिया गया है। ऐसी हालत में जंग इस्लाम के ज़रूरी कामों के नक़्शे से बाहर है। इस्लाम की शिक्षा यह है कि हर हाल में सारा ज़ोर विचार और विवेक की जागृति पर दिया जाए। इंसानी मानसिकता के अनुसार सोच से कर्म पैदा होता है, मगर कर्म से सोच पैदा नहीं हो सकती।

हक़ीक़त यह है कि जंग इस्लाम के सुधारवादी नक़्शे को बिगाड़ने वाली है। जंग इस्लाम के सुधार के नक़्शे को बनाने वाली नहीं— चाहे ग़ैर-इस्लाम हो या इस्लाम— किसी के लिए यह संभव नहीं कि वह जंग और हिंसा के द्वारा कोई सकारात्मक लाभ प्राप्त कर सके। इसलिए जंग को टालने के समस्त प्रयासों के बावजूद अगर जंग की स्थिति आ जाए तो मुसलमानों का पहला प्रयास यह होना चाहिए कि वे जल्द-से-जल्द जंग के वातावरण को समाप्त करने का प्रयत्न करें, ताकि शांति के वातावरण में इस्लाम का मूल सकारात्मक काम जारी रह सके।

जिहाद क्या है? जिहाद शांतिपूर्ण संघर्ष का दूसरा नाम है। आजकल की भाषा में जिहाद को शांतिपूर्ण सक्रियतावाद (peaceful activism) कहा जा सकता है यानी शांतिपूर्ण माध्यमों का इस्तेमाल करते हुए किसी महान उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करना।

जिहाद का शाब्दिक अर्थ प्रयत्न या संघर्ष करना है। क़ुरआन में यह आदेश दिया गया है— ईश्वर की किताब के द्वारा उनसे जिहाद-ए-कबीर यानी बड़ा जिहाद करो (25:52) और एक हदीस में बताया गया है कि मुजाहिद वह है, जो ईश्वर के आज्ञापालन के लिए अपने नफ़्स** से मुक़ाबला करे। पैग़ंबर-ए-इस्लाम

---

* ईश्वर द्वारा अपने पैग़ंबर के ज़रिए भेजे गए संदेश पर दृढ़ विश्वास।

** चित्त, मन, इच्छा।

‘तबूक’ की जंग से वापस आए। यह एक ऐसा अभियान था जिसमें कोई टकराव पेश नहीं आया। वापसी के बाद आपने फ़रमाया कि हम छोटे जिहाद से बड़े जिहाद की तरफ़ वापस आए हैं।

जिहाद पूर्ण रूप से एक शांतिपूर्ण अमल* का नाम है। व्यक्तिगत दृष्टि से जिहाद यह है कि इंसान नफ़्स के प्रलोभनों से और अपने वातावरण के दुखद अनुभवों के बावजूद ईश्वर के पसंदीदा रास्ते को न छोड़े। प्रतिकूल (unfavorable) कारणों का मुक़ाबला करते हुए वह अपने आपको सत्य की नीति पर क़ायम रखे। सामूहिक दृष्टि से जिहाद को शांतिपूर्ण संघर्ष कहा जा सकता है। इसका मतलब यह है कि किसी इस्लामी उद्देश्य के लिए जब कोई आंदोलन शुरू किया जाए तो उसे संघर्षपूर्ण शैली से आगे बढ़ाया जाए, न कि हिंसात्मक शैली से। हिंसात्मक शैली में इंसान ताक़त पर भरोसा करता है, जबकि इसकी तुलना में संघर्षपूर्ण शैली यह है कि प्राकृतिक तरीक़े से प्रेरणा लेकर और उसे इस्तेमाल करते हुए अपना उद्देश्य प्राप्त किया जाए।

संघर्षपूर्ण शैली में सबसे ज़्यादा भरोसा बौद्धिक जागरूकता पर किया जाता है। लोगों के अंदर स्वस्थ भावना (healthy spirit) जगाई जाती है। इंसानी तरक़्क़ी के लिए जो विभाग बुनियादी समझे जाते हैं, उनको सकारात्मक मज़बूती पर उभारा जाता है। यह प्रयास किया जाता है कि लोगों के अंदर उच्च चरित्र पैदा हो। लोग दूसरों के लिए फ़ायदेमंद बनें, लोगों के अंदर दूसरों के लिए हमदर्दी और शुभेच्छा की भावना पैदा हो। जिहाद का हथियार प्रेम है, न कि नफ़रत व हिंसा।

हक़ीक़त यह है कि जिहाद को संहार (destruction) के अर्थ के समान समझना जिहाद को छोटा समझना है। संहार एक बहुत ही सीमित और सामयिक कर्म है। इसके विपरीत जिहाद एक निरंतर (continuous) और हमेशा चलने वाला कर्म है। जिहाद इस्लाम का एक महानतम कर्म है, जो इंसान के जीवन में हर दिन और हर क्षण जारी रहता है। वह किसी भी हाल में स्थगित नहीं होता।

इंसान के अंदर जब सत्य की खोज की भावना उभरती है तो वह एक

---

* कर्म; किसी व्यक्ति द्वारा किया जाने वाले अच्छा या बुरा काम।

वैचारिक जिहाद में व्यस्त हो जाता है। फिर जब उसे सत्य की पहचान प्राप्त होती है तो उसके जीवन में जिहाद और ज़्यादा वृद्धि के साथ जारी हो जाता है। अब इंसान को यह करना पड़ता है कि वह इच्छाओं, शैतान और वातावरण के मुक़ाबले में संघर्ष करते हुए अपने ईमान को लगातार बढ़ाए। वह अपने अंदर सकारात्मक बौद्धिक क्रिया को इस प्रकार जारी रखे कि ईश्वर का बोध हर क्षण उन्नति करता रहे। यहाँ तक कि वह उच्च स्थान तक पहुँच जाए।

हदीस में वर्णन है कि ईमान घटता-बढ़ता रहता है। ईमान को क्षति (erosion) से बचाने की माँग निरंतर जिहाद है। सामूहिक जीवन में रहते हुए बार-बार ऐसा होता है कि इंसान के ऊपर ग़ुस्सा, ईर्ष्या, घमंड, अकृतज्ञता, लालसा जैसे जज़्बात का हमला होता है। ये नकारात्मक भावनाएँ इंसान के ईमान को कमज़ोर या अपूर्ण कर देने वाली हैं। उस समय इंसान को यह करना पड़ता है कि वह अपने विवेक को जाग्रत करके अपनी आंतरिक संवेदनाओं से लड़े और उनको परास्त करके समाप्त करे। यह एक जिहाद है और इस जिहाद के बिना कोई व्यक्ति अपने ईमान को क्षति या नष्ट होने से नहीं बचा सकता।

वहीदुद्दीन ख़ान
नई दिल्ली; 25 मई, 2004

शांति और इस्लाम

अमेरिकी यूनिवर्सिटी (वांशिगटन) में फ़रवरी, 1988 में एक तीन दिवसीय सभा (symposium) हुई। इस सभा में 6 फ़रवरी को एक लेखक ने इस्लाम और शांति पर एक भाषण दिया। इस भाषण के एक भाग का वर्णन इस प्रकार है—

It is no exaggeration to say that Islam and violence are contradictory to each other. The concept of Islamic violence is so obviously unfounded that prima facie it stands rejected. The fact that violence is not sustainable in the present world is enough to believe that violence as a principle is quite alien to the scheme of things in Islam. Islam claims to be an eternal religion and an eternal religion cannot afford a principle in its scheme which was not sustainable in the later periods of human history. Any attempt to bracket violence with Islam amounts to making every eternity of Islamic religion doubtful.

(Al-Risala; August, 1998; P. 9)

'इस्लामिक आंतकवाद' इसी प्रकार एक प्रतिकूल (contradictory) परिभाषा है, जिस प्रकार 'शांतिपूर्ण आतंकवाद' (pacifistic terrorism)। हक़ीक़त यह है कि इस्लाम की समस्त शिक्षाएँ शांति के नियम पर आधारित हैं— चाहे प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से।

क़ुरआन और हदीस में शांति की शिक्षा

स्वयं इस्लाम शब्द में शांति का भाव शामिल है। इस्लाम का मूल शब्द 'सिलिम' है। सिलिम का मतलब अमन यानी शांति होता है। इसलिए इस्लाम का मतलब है अमन का मज़हब। हदीस में वर्णन है कि 'सलामती' (शांति) इस्लाम का अंश है। इसी प्रकार हदीस में है कि मुसलमान वह है जिसकी ज़ुबान और जिसके हाथ से लोग अमन में रहें। क़ुरआन में ईश्वर के जो नाम बताए गए

हैं, उनमें से एक नाम ‘अस्सलाम’ है जिसका मतलब है शांति एवं सुरक्षा (59:23)। मानो ईश्वर का अस्तित्व स्वयं शांति के गुण का प्रकटन है। हदीस में यह वर्णन है कि ईश्वर स्वयं सलामती है (बुख़ारी, किताबुल अज़ान)। इसी प्रकार ईश्वर के मार्गदर्शन को क़ुरआन में अमन का रास्ता (5:16) कहा गया है। इस्लाम के अनुसार जन्नत इंसान के रहने का आदर्श स्थान है और क़ुरआन में जन्नत को ‘दारुस्सलाम’ (10:25) यानी ‘शांति का घर’ कहा गया है। क़ुरआन में बताया गया है कि जन्नत वालों के बोल एक-दूसरे के लिए सलामती (56:26) के होंगे। दूसरे शब्दों में यह कि जन्नत वालों का सामूहिक कल्चर पीस कल्चर (peace culture) होगा।

क़ुरआन में कहा गया है कि सुलह बेहतर है (4:128) मतलब समझौते का तरीक़ा अपने नतीजे के ऐतबार से ज़्यादा बेहतर है। प्रकृति के क़ानून (law of nature) के अनुसार, ईश्वर ने समझौतावादी व्यवहार-शैली पर वह सफलता लिख दी है, जो उसने टकराव या हिंसात्मक कार्य-शैली पर तय नहीं की।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम की पत्नि आयशा ने सामूहिक मामलों में आपकी जनरल पॉलिसी को इस प्रकार बताया है— “पैग़ंबर-ए-इस्लाम को जब भी किसी काम को करने की दो कार्यशैलियों में से एक का चुनाव करना होता तो आप हमेशा दोनों में से आसान का चुनाव करते (बुख़ारी, किताबुल मनाक़िब)।” इसका मतलब यह है कि जब शांतिपूर्ण अमल (peaceful activism) उपलब्ध हो तो हिंसापूर्ण सक्रियतावाद (violent activism) को धारण नहीं किया जाएगा, क्योंकि शांतिपूर्ण अमल की हैसियत तुलनात्मक सरल विकल्प (easier option) की है और हिंसापूर्ण सक्रियतावाद की हैसियत तुलनात्मक कठिन विकल्प (harder option) की।

जैसे किसी आंदोलन के पहले ही चरण में यथापूर्ण स्थिति (status quo) को बदलने का प्रयास करना कठोर चुनाव है और यथापूर्ण स्थिति को बदले बिना प्राप्त परिधि में अपना अमल जारी रखना आसान चुनाव। विवाद के अवसर पर लड़ जाना कठिन चुनाव है और विवाद के अवसर पर समझौता कर लेना आसान चुनाव। प्रतिद्वंद्वी के मुक़ाबले में हिंसात्मक कार्य-शैली को अपनाना कठिन विकल्प है और प्रतिद्वंद्वी के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण कार्य-शैली को अपनाना सरल विकल्प। अकारण आघात पहुँचने का उत्तर आघात पहुँचाने से देना कठिन चुनाव है और आघात पहुँचने का उत्तर धैर्य व सहनशीलता से देना

आसान चुनाव। समस्या उत्पन्न होने की स्थिति में हंगामा खड़ा करने की शैली धारण करना कठिन विकल्प है और समस्या उत्पन्न होने की स्थिति में ख़ामोशी धारण करना सरल विकल्प। सुधार के लिए अतिवादी (radical) शैली धारण करना कठिन विकल्प है और सुधार के लिए क्रमिक शैली (gradual process) धारण करना सरल विकल्प। परिणाम की परवाह किए बिना उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया (reaction) करना मुश्किल चुनाव है और परिणाम को सामने रखते हुए युक्तिपूर्ण (planned) क़दम उठाना आसान चुनाव। शासक से लड़ाई कठिन विकल्प है और शासक से बचते हुए शिक्षा-दीक्षा के दायरे में अपने कार्य का आरंभ करना आसान विकल्प। इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कथित हदीस के अनुसार आसान विकल्प क्या है और कठिन विकल्प क्या है।

हक़ीक़त यह है कि इस्लाम में अमन की हैसियत सामान्य नियम की है, जबकि जंग की हैसियत केवल अपवाद की। इस्लाम की समस्त शिक्षाएँ और पैग़ंबर-ए-इस्लाम का व्यावहारिक जीवन इसकी पुष्टि करता है।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम का नमूना

पैग़ंबर-ए-इस्लाम हज़रत मुहम्मद पर 610 ई० में मक्का में पहली वह्य* उतरी। ईश्वर ने आपको जिस मिशन के लिए नियुक्त किया था, वह एकेश्वरवाद का मिशन था। इस मिशन की संबद्धता से मक्का में एक बहुत बड़ी व्यावहारिक समस्या मौजूद थी। वह यह कि काबा जिसे ईश्वर के पैग़ंबर इब्राहीम और इस्माईल ने एकेश्वरवाद के घर की हैसियत से बनाया था, उसे बाद के समय में व्यावहारिक अनेकेश्वरवाद का केंद्र बना दिया गया। वहाँ 360 मूर्तियाँ रख दी गईं।

इस परिस्थिति की प्रत्यक्ष में यह माँग थी कि क़ुरआन में पहला आदेश इस भावार्थ का उतरे कि 'काबा को बुतों से शुद्ध करो', लेकिन इस मामले को नज़रअंदाज़ करते हुए इस समय क़ुरआन में पहला आदेश यह उतरा कि अपने कपड़ों को पवित्र रखा करो (74:4) यानी अपने आचरण और चरित्र की शुद्धि करो। अगर पहले ही चरण में पैग़ंबर-ए-इस्लाम को काबा की शुद्धि का आदेश दिया जाता तो इस समय जबकि मक्का पर अनेकेश्वरवादियों का वर्चस्व था,

* ईश्वर का वह संदेश, जो पैग़ंबरों को फ़रिश्ते जिब्रील द्वारा भेजा जाता था।

निश्चित ही यह आदेश तुरंत टकराव और जंग का कारण बन जाता। अतः इस आदेश के अनुसार पैग़ंबर-ए-इस्लाम मक्की दौर* के 13 वर्ष तक काबा में शांतिपूर्ण रूप से नमाज़ पढ़ते रहे, जबकि वहाँ सैकड़ों की संख्या में मूर्तियाँ रखी हुई थीं। इसी तरह आपने और आपके साथियों ने हुदैबिया संधि के साल भर बाद होने (629 ई०) वाले उमरह** के अवसर पर काबा की परिक्रमा की, जबकि उस समय काबा में 360 मूर्तियाँ विधिवत मौजूद थीं।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने ऐसा इसलिए किया, ताकि अनेकेश्वरवादियों से जंग व टकराव को टाला जा सके और शांति-व्यवस्था बनी रहे। आपका पूरा जीवन इसी शांतिप्रिय नीति का उदाहरण है— मक्का से प्रवास के अवसर पर अनेकेश्वरवादी जंग करने के लिए उत्सुक थे, मगर आप ख़ामोशी के साथ मक्का से निकलकर मदीना चले गए। हुदैबिया संधि (628 ई०) के अवसर पर पूर्ण अर्थों में जंगी हालात पैदा हो गए थे, मगर आपने अनेकेश्वरवादियों की एकतरफ़ा शर्तों को स्वीकार करके उनसे शांति का समझौता कर लिया। ख़ंदक़ (खाई) की जंग (627 ई०) के अवसर पर अनेकेश्वरवादियों की 12 हज़ार फ़ौज मदीने की सरहद पर जंग की चुनौती दे रही थी, मगर आपने लंबी ख़ंदक़ खोदकर अपने और दुश्मनों के बीच में एक अवरोध (buffer) पैदा कर दिया आदि।

इस्लाम एकेश्वरवाद का मिशन है। इस्लाम का उद्देश्य यह है कि ईश्वर के बंदों को एक ईश्वर का उपासक बनाया जाए। लोगों के दिल व दिमाग़ को इस प्रकार बदला जाए कि वे केवल एक ईश्वर से प्रेम करें (क़ुरआन, 2:165) और केवल एक ईश्वर से डरें (क़ुरआन, 9:18) और केवल एक ईश्वर ही उनका सबसे बड़ा चिंतन (concern) बन जाए।

इस प्रकार का कार्य जंग व हिंसात्मक टकराव को सहन नहीं कर सकता। इसलिए जंग व हिंसा के हालात उत्पन्न होने के बाद वह संतुलित वातावरण ख़त्म हो जाता है, जबकि वैचारिक सुधार और आध्यात्मिक क्रांति का कोई आंदोलन प्रभावी रूप से चलाया जा सके। हक़ीक़त यह है कि शांतिपूर्ण हालात हमेशा इस्लाम के लिए अनुकूल वातावरण बनाते हैं और हिंसापूर्ण हालात हमेशा इस्लाम के ख़िलाफ़ वातावरण को अस्तित्व में लाते हैं।

---

* मक्का में व्यतीत समय।

** वार्षिक तारीख़ों को छोड़कर साल में कभी भी किया जाने वाला हज।

जंग एक राज्य का कार्य

इस्लाम में जंग प्रजा का काम नहीं है, बल्कि वह नियमानुसार स्थापित राज्य का काम है यानी जिस प्रकार लोग समय आने पर स्वयं ही नमाज़ पढ़ लेते हैं, इसी प्रकार वे स्वयं जंग व संहार नहीं कर सकते। जंग या संहार की घोषणा केवल एक स्थापित राज्य कर सकता है। राज्य अगर पुकारे तो जनता इसकी सहायक बनकर इसके साथ शामिल हो सकती है, लेकिन स्वयं वह हरगिज़ कोई जंग नहीं छेड़ सकती।

क़ुरआन में सामान्य आदेश के रूप में यह नियम बताया गया है कि जब भी कोई भय या बाहरी आक्रमण की स्थिति उत्पन्न हो तो जनता को स्वयं कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। उसे केवल यह करना चाहिए कि वह इस मामले को शासकों तक पहुँचाए (4:83) और उन्हें अवसर दे कि वे आवश्यकतानुसार अपनी जवाबी कार्यवाही की योजना बनाएँ। इसी बात का हदीस में इन शब्दों में वर्णन हुआ है, "हुक्मरान ढाल है, जंग इसकी मातहती में की जाती है और इसी के द्वारा बचाव हासिल किया जाता है।" इससे मालूम होता है कि जंग की घोषणा या इसकी योजनाबंदी पूर्ण रूप से स्थापित राज्य का काम है। आम मुसलमान इसकी मातहती में रहकर और इसके आदेशागत आवश्यकतानुसार अपनी भूमिका अदा कर सकते हैं, इससे आज़ाद होकर नहीं।

इस इस्लामी नियम से स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि इस्लाम में इस ग़ैर-सरकारी जंग की कोई गुंजाइश नहीं जिसे आम तौर पर गोरिल्ला वार (gorilla war) कहा जाता है, क्योंकि गोरिल्ला वार जनता के स्वतंत्र संगठनों की ओर से लड़ा जाता है, न कि सरकारी संस्थान की ओर से।

स्वयं सरकारी संस्थान के लिए आवश्यक है कि अगर वह किसी देश या समुदाय के ख़िलाफ़ रक्षात्मक जंग लड़ना चाहता है तो क़ुरआन के अनुसार, पहले वह इसकी नियमानुसार घोषणा करे और अगर इसके ख़िलाफ़ कोई समझौता है तो इस समझौते को वह निरस्त कर दे (8:58)। इस्लाम में ऐलान के साथ जंग करना है, बिना ऐलान जंग (undeclared war) इस्लाम में नहीं। इस नियम के अनुसार प्रॉक्सी वार (proxy war) इस्लाम में जायज़ नहीं।

जैसे इस्लाम में सभी कामों की कुछ शर्तें हैं, इसी प्रकार इस्लाम में जंग की भी कुछ अनिवार्य शर्तें हैं। इनमें से एक शर्त यह है कि जंग चाहे कोई व्यवस्थित

मुस्लिम राज्य करे और चाहे वह रक्षात्मक हो, तब भी इस जंग का लक्ष्य हमलावरों तक सीमित होगा। मतलब इस जंग में मुसलमानों की सेना केवल लड़ने वालों (combatants) पर वार कर सकती है, ग़ैर-लड़ाकों (non-combatants) को अपने आक्रमण का निशाना बनाना फिर भी जायज़ न होगा।

अतः क़ुरआन में आदेश दिया गया है कि तुम उन लोगों के साथ जंग न करो, जिन्होंने तुमसे जंग नहीं की। ऐसे लोगों के साथ तुम अच्छे व्यवहार और इंसाफ़ का मामला करो; लेकिन जिन लोगों ने तुमसे जंग की, उनसे जंग करने के लिए तुम आज़ाद हो। इनके साथ तुम्हारा मामला दोस्ती का मामला नहीं (60:8-9)।

अगर मान लिया जाए कि किसी क़ौम के साथ मुस्लिम हुकूमत की जंग छिड़ जाए और यह जंग इस्लामी शर्तों के अनुसार हो, तब भी मुसलमानों के लिए यह जायज़ नहीं होगा कि वे आम नागरिकों के ख़िलाफ़ किसी प्रकार की विध्वंसकारी कार्यवाही करें, जैसी विध्वंसकारी कार्यवाही 11 सितंबर, 2001 को न्यूयॉर्क और वाशिंगटन में की गई।

इसी प्रकार जायज़ इस्लामी जंग में भी मुसलमानों को यह अनुमति नहीं कि वे दूसरे पक्ष पर आत्मघाती बमबारी करें। मतलब जानबूझकर अपने शरीर पर बम बाँधकर दूसरे पक्ष की फ़ौजी या शहरी आबादी पर टूट पड़ें और जानबूझकर अपने को हलाक करके दूसरे पक्ष को हलाक करें। इस प्रकार का मामला बिल्कुल भी शहादत या शहीद होना नहीं है। इस्लाम में शहीद होना है, इस्लाम में शहीद करवाना नहीं है।

शहीद और आक्रमणकारी का अंतर

ईश्वर ने अपनी परीक्षा नीति के तहत दुनिया में इंसान को आज़ादी दी है। इस आज़ादी के आधार पर ऐसा होता है कि लोगों के बीच दुश्मनी हो जाती है (क़ुरआन, 20:123), यहाँ तक कि लोगों के बीच जंग की स्थिति आ जाती है, मगर इस्लाम में दुश्मनी और जंग दोनों में स्पष्ट अंतर किया गया है।

मुसलमानों को यह अधिकार नहीं कि वे जिसे अपना दुश्मन समझें, उसके ख़िलाफ़ वे जंग छेड़ दें। दुश्मन के मुक़ाबले में मुसलमानों को केवल एकेश्वरवाद का शांतिपूर्ण निमंत्रण-कार्य करना चाहिए, न कि उनसे जंग छेड़ दें। इस विषय में क़ुरआन में स्पष्ट आदेश देते हुए कहा गया है, “और इससे बेहतर किसकी बात

होगी जिसने लोगों को ईश्वर की ओर बुलाया और अच्छे काम किए और कहा कि मैं आज्ञाकारियों में से हूँ और भलाई व बुराई दोनों बराबर नहीं। तुम जवाब में वह कहो, जो उससे बेहतर हो। फिर तुम देखोगे कि तुममें और जिसमें दुश्मनी थी, वह ऐसा हो गया, जैसे कोई निकटतम दोस्त (41:33-34)।" मानो इस्लाम में दुश्मन को शांतिपूर्ण प्रयास के द्वारा अपना दोस्त बनाना है, न कि उसे दुश्मन क़रार देकर उसके ख़िलाफ़ जंग करना।

इस्लाम में जंग की अनुमति है, मगर यह अनुमति केवल उन परिस्थितियों में है, जबकि अनदेखी के बावजूद भी दूसरा पक्ष हमला कर दे और वास्तविक आत्मरक्षा की स्थिति पैदा हो जाए। क़ुरआन में आदेश हुआ है, "उन लोगों को लड़ने की अनुमति दी गई जिनके ख़िलाफ़ जंग की जाती है। इस कारण से कि उन पर ज़ुल्म हुआ (22:38)।" क़ुरआन में दूसरी जगह जंग की अनुमति देते हुए यह स्पष्ट किया गया है, "यह दूसरा पक्ष है जिसने पहली बार जंग की शुरुआत की (9:13)।"

मालूम हुआ कि इस्लामी शिक्षा के अनुसार जंग दुश्मन के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि हमलावर के ख़िलाफ़ है। मुसलमान अगर किसी को अपना दुश्मन समझें तो उन्हें यह अनुमति नहीं कि वे उनके ख़िलाफ़ हमला कर दें। ऐसे लोगों के मुक़ाबले में शुरू व आख़िर जो अधिकार दिया गया है, वह एकेश्वरवाद का शांतिपूर्ण निमंत्रण है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। हिंसक हमले के ख़िलाफ़ रक्षात्मक जंग इस्लाम में जायज़ है, मगर वह भी उस समय जबकि जंग से बचने की सारी कोशिशें नाकाम हो गई हों। पैग़ंबर-ए-इस्लाम का व्यावहारिक नमूना इसका स्पष्ट एवं दृढ़ प्रमाण है।

जंग एक अवांछनीय चीज़

इस्लाम के लिए जंग का वातावरण इतना ही अवांछनीय है, जितना व्यापार के लिए नफ़रत व हिंसा का वातावरण अवांछनीय है। व्यापार शांति और संतुलन के वातावरण में सफल होता है। इसी प्रकार इस्लाम के उद्देश्य केवल शांति के हालात और सामान्य संबंधों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। हदीस में वर्णन है, "ऐ लोगो, तुम दुश्मन से मुठभेड़ की तमन्ना न करो, बल्कि तुम ईश्वर से शांति माँगो।" (बुख़ारी, किताबुल जिहाद)

जंग करने वाले हमेशा राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए जंग करते हैं और राजनीतिक सत्ता इस्लाम में कोई ऐसी चीज़ नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिए जंग की जाए। क़ुरआन के अनुसार, राजनीतिक सत्ता इस्लाम के मानने वालों का निशाना नहीं, बल्कि वह एक अमर-ए-मौऊद* है (24:55)। क़ुरआन के अनुसार, सत्ता का मालिक ईश्वर है। वह जिसे चाहता है, उसे देता है और जिससे चाहता है, उससे इसे छीन लेता है (2:26)। यही कारण है कि सत्ता और राजनीतिक विजय कभी एक के हिस्से में आती है और कभी दूसरे के हिस्से में (2:140)।

इस क़ुरआनी हक़ीक़त को दूसरे शब्दों में इस तरह बताया जा सकता है कि राजनीतिक सत्ता का मिलना या राजनीतिक सत्ता का छिन जाना दोनों प्रकृति के नियमों के तहत पेश आते हैं, सत्ता न किसी गिरोह को उसकी कोशिश से मिलती है और न किसी दूसरे गिरोह की साज़िश इसे किसी से छीन सकती है।

जंग के बग़ैर विजय

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के जीवन में एक घटना वह है, जिसे सुलह हुदैबिया (628 ई०) कहा जाता है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम इस समय मदीना में थे और मक्का अनेकेश्वरवादियों के क़ब्ज़े में था, जो इस समय आपसे जंग लड़ रहे थे। पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने उमरह के लिए मक्का जाना चाहा, क्योंकि काबा मक्का में है, इस आधार पर उमरह की इबादत मक्का में ही अदा की जाती है। आपकी यह यात्रा शुद्ध तीर्थयात्रा थी, मगर मक्का वालों ने इसे अपने लिए मान-सम्मान (prestige) का प्रश्न बना लिया। उन्होंने आपको मक्का के बाहर हुदैबिया के स्थान पर रोक दिया और कहा कि आप यहाँ से वापस चले जाएँ। यह बहस यहाँ तक बढ़ी कि जंग की स्थिति पैदा हो गई। इस समय पैग़ंबर-ए-इस्लाम के साथ 1400 मुसलमान थे। अगर यह लोग हठ करते कि वे मक्का में प्रवेश कर उमरह करेंगे तो निश्चित रूप से दोनों पक्षों के बीच जंग छिड़ जाती, मगर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अनेकेश्वरवादियों की माँग को मान लिया और 10 वर्ष की शांति संधि

---

* वह चीज़ जिसका ईश्वर ने वादा किया है। यह प्रयत्न से नहीं, बल्कि योग्यता के फलस्वरूप मिलती है।

करके हुदैबिया से मदीना वापस आ गए।

हुदैबिया संधि प्रत्यक्ष रूप से मुक़ाबले के मैदान से वापसी का समझौता थी, मगर जब यह समझौता हो गया तो क़ुरआन में इसे मुसलमानों के हक़ में खुली विजय (48:1) क़रार दिया गया। उस समय के हालात में इसका मतलब यह था कि तुम लोगों ने अपने संधि-प्रतिद्वंद्वी से जंग न करके उनके ऊपर विजय प्राप्त कर ली।

इसका मतलब क्या था? इसका मतलब यह था कि जंग की उपेक्षा करके और शांति समझौता करके मुसलमानों को यह अवसर (opportunity) प्राप्त हो गया कि वे अपनी शक्तियों को जंग में नष्ट होने से बचाएँ और इसे पूर्ण रूप से निर्माण और मज़बूती में लगाएँ। अतः ऐसा ही हुआ। इतिहास बताता है कि हुदैबिया के शांति समझौते के बाद 2 वर्ष के अंदर मुसलमानों ने अपने आपको इतना दृढ़ बना लिया कि वे इस हैसियत में हो गए कि किसी नियमानुसार लड़ाई के बिना केवल शांतिपूर्ण युक्ति के द्वारा मक्का पर विजय प्राप्त कर ली। 'जंग के बिना विजय' का यह नियम निःसंदेह इस्लाम का एक अति महत्त्वपूर्ण नियम है। यह नियम प्रकृति की अटल व्यवस्था पर स्थापित है। यह लोगों और दलों के लिए भी इतना ही फ़ायदेमंद है, जितना कि राज्यों के लिए। इस नियम को एक वाक्य में इस प्रकार बताया जा सकता है—

टकराव से बचो और अवसरों को इस्तेमाल करो।

Avoid the confrontation and avail the opportunities.

जंग की समाप्ति के लिए जंग करना

क़ुरआन में पैग़ंबर और उनके साथी को जो आदेश दिए गए, इनमें से एक आदेश यह था— "और इनसे लड़ो, यहाँ तक कि फ़ितना* बाक़ी न रहे और दीन सारा ईश्वर के लिए हो जाए। फिर अगर वे बाज़ आ जाएँ तो ईश्वर देखता है, जो वे कर रहे हैं।" (8:39)

इस आयत** के दो भाग हैं। यहाँ एक ही बात को पहले नकारात्मक और

* उपद्रव; धार्मिक उत्पीड़न।

** क़ुरआन का कोई वाक्य; क़ुरआन की सबसे छोटी ईकाई।

इसके बाद सकारात्मक शैली में बताया गया है। इसका मतलब यह है कि फ़ितने की हालत को इस प्रकार समाप्त कर दो कि पूरी तरह ग़ैर-फ़ितना की हालत क़ायम हो जाए। दूसरे शब्दों में यह कि इंसान की उत्पन्न की हुई झूठी और बनावटी हालत न रहे, बल्कि ईश्वर की निर्धारित की हुई प्राकृतिक हालत वापस आ जाए।

इस आयत में फ़ितने से अभिप्राय धार्मिक उत्पीड़न (religious persecution) है, जो पुराने ज़माने में सारी दुनिया में प्रचलित था। पुराने ज़माने में हर जगह बादशाहत की परंपरा थी। उस समय जीवन के दो बड़े विभाग थे— सत्ता और ज़मीन। यह दोनों विभाग पूर्ण रूप से राजा के हाथ में होते थे। इस प्रकार पूरा मानव जीवन व्यवहारतः राजा के क़ब्ज़े में रहता था। यहाँ तक कि लोगों का धर्म भी वही होता था, जो राजा का धर्म होता था। उस समय के हालात एक प्राचीन अरबी कथन में इस प्रकार बताए गए हैं— "लोग अपने राजा के धर्म पर होते हैं।"

पुराने ज़माने में उत्पीड़न की यह स्थिति ईश्वर की सृष्टि-निर्माण योजना के ख़िलाफ़ थी। इसके नतीजे में सारी दुनिया में एक प्रकार का राजनीतिक केंद्रीकरण (political centralization) हो गया था। इस व्यवस्था के अंदर हर काम राजा की आज्ञा से हो सकता था। आम लोग कोई भी काम स्वतंत्र रूप से करने की स्थिति में नहीं होते थे। यह लगभग वही स्थिति थी, जिसका एक नमूना कम्युनिस्ट डिक्टेटरशिप के तहत स्थापित सोवियत यूनियन में देखा जा सकता है।

ईश्वर यह चाहता है कि राजनीतिक उत्पीड़न की इस अप्राकृतिक व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए और जीवन की पूरी व्यवस्था उस प्राकृतिक हालत पर स्थापित हो जाए, जो ईश्वर ने परीक्षा नीति के तहत इंसान के लिए नियुक्त की है यानी राजनीतिक सत्ता की इजाज़त के बिना हर इंसान स्वतंत्र रूप से वह काम कर सके, जिसे वह करना चाहता है।

इस्लाम के पहले दौर में साम्राज्यवाद को समाप्त करके ख़िलाफ़त* की स्थापना इसी अमल का आरंभ था। यह व्यवस्था सबसे पहले अरब में स्थापित की गई। इस समय संसार में दो बड़े साम्राज्य— बाइज़ेनटाइन साम्राज्य (Roman Empire) और सासानी साम्राज्य (Persian Empire) स्थापित थे। इन साम्राज्यों

---

* हज़रत मुहम्मद के राजनैतिक और धार्मिक उत्तराधिकारी का पदत। तमाम मुसलमान और मुस्लिम राज्य इसके अधीन थे।

के लिए कथित प्रकार का सुधारवादी प्रोग्राम एक चुनौती की हैसियत रखता था। अतः इन्होंने इस सुधारवादी आंदोलन को कुचलना चाहा। इसके नतीजे में पैग़ंबर के साथियों का इन साम्राज्यों के साथ ज़बरदस्त मुक़ाबला हुआ। ईश्वर की मदद से इस मुक़ाबले में पैग़ंबर के साथियों को सफलता प्राप्त हुई और इस उत्पीड़नात्मक व्यवस्था का अंत हो गया, जिसे फ़्रांसीसी इतिहासकार हेनरी पिरेन (Henry Pirenne) ने पूर्ण साम्राज्यवाद (absolute imperialism) का नाम दिया था।

हज़ारों वर्ष से स्थापित उत्पीड़नात्मक व्यवस्था को समाप्त करके एक स्वतंत्र व्यवस्था स्थापित करना एक अति क्रांतिकारी घटना थी। यह घटना अपने पहले ही दौर में पूरी नहीं हो सकती थी। इस्लाम का कारनामा यह है कि इसने ईश्वर की मदद से सातवीं शताब्दी ई० में इस प्राचीन उत्पीड़नात्मक व्यवस्था की ऐतिहासिक निरंतरता को तोड़ दिया। इसके बाद यह परिवर्तन एक प्रक्रिया के रूप में मानव इतिहास में प्रवेश कर गया। यह प्रक्रिया विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक ऊँच-नीच के साथ निरंतर जारी रही, यहाँ तक कि वह बीसवीं शताब्दी में अपनी अंतिम पूर्णता तक पहुँच गई।

विकेंद्रीकरण (de-centralization) की यह घटना बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही पेश आ गई। अब राजनीतिक सत्ता सीमित होकर केवल प्रबंधन (administration) की हैसियत से बाक़ी रही। अब राजनीतिक संस्थान का हस्तक्षेप जीवन के एक प्रतिशत हिस्से तक सीमित हो गया और जीवन के शेष 99 प्रतिशत विभाग इस प्रकार आज़ाद हो गए कि हर इंसान अपनी इच्छानुसार इन्हें अपने लिए प्रयोग कर सके।

मानव जीवन की व्यवस्था में यह महान परिवर्तन ठीक इस्लाम के हक़ में था। अब दूसरों की तरह मुसलमानों के लिए यह संभव हो गया कि राजनीतिक अर्थों में चाहे वे शासक हों या न हों, जीवन के निर्माण व साकार करने की वे अपनी हर योजना किसी रुकावट के बिना चला सकें। वास्तविकता यह है कि इस परिवर्तन ने जीवन की व्यवस्था को राजशाही के दौर से निकालकर संस्थान (institution) के दौर में पहुँचा दिया।

अब इस्लाम के मानने वालों के लिए यह संभव हो गया कि वे हर प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करके जीवन के समस्त विभागों में उन्नति प्राप्त कर सकें। यहाँ तक कि स्वयं राजनीतिक संस्था को भी मध्यस्थीय शैली में अपने प्रभाव में कर लें।

कथित परिवर्तन के बाद यह संभव हो गया कि मुसलमान व्यापक स्तर पर हर प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करें और संस्थाओं के द्वारा समाज में वह प्रभुत्व प्राप्त कर लें, जो पहले केवल राजनीतिक सत्ता के द्वारा संभव हुआ करता था, जैसे— स्कूल और विद्यालयों द्वारा नई पीढ़ियों की शिक्षा, प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के द्वारा सामान्य वैचारिक वातावरण बनाना, पुस्तकों के द्वारा अपने विचारों का प्रसार-प्रचार, अनुसंधान के संस्थानों के द्वारा नए प्रयासों का अमल जारी रखना, मस्जिदों और मदरसों के द्वारा अपने मज़हब की हिफ़ाज़त, औद्योगिक संस्थानों द्वारा आर्थिक विकास, संचार माध्यमों के द्वारा अपने उद्देश्यों की वैश्विक व्यवस्था, विभिन्न प्रकार की एन.जी.ओ. (NGOs) के द्वारा अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों की व्यवस्था आदि।

वर्तमान समय में जिन समुदायों ने परिवर्तन के इस भेद को समझ लिया, वे प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता की कुर्सी पर न होते हुए हर प्रकार की सफलताएँ प्राप्त किए हुए हैं। किसी गिरोह ने देश के भीतर अपना शैक्षिक एम्पायर बना लिया है, किसी ने अपना औद्योगिक एम्पायर बना लिया है और किसी ने प्रकाशन एवं दूर संचार एम्पायर, किसी ने अपना इकोनॉमिक एम्पायर बना लिया है और किसी ने चिकित्सीय एम्पायर बना लिया है। इस अराजनीतिक एम्पायर का अंतिम उदाहरण कंप्यूटर एम्पायर है, जिसने लोगों को अवसर दिया है कि वे न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संपूर्ण जीवन की व्यवस्था को अपने कंट्रोल में ले सकें।

मैं समझता हूँ कि इस आयत (दीन सारा ईश्वर के लिए हो जाए) का एक अहम पहलू यही सामयिक परिवर्तन है। इस परिवर्तन ने राजनीतिक सत्ता को घटाकर अब इसे केवल एक प्रकार का राजनीतिक सिरदर्द (political headache) बना दिया है। अब इस्लाम के अनुयायियों के लिए ज़रूरी नहीं है कि वे राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए जंग करें। राजनीतिक सत्ता, चाहे जिस किसी के पास हो, वे हर हाल में ऐसा कर सकते हैं कि अराजनीतिक संस्थान (non-political institutions) स्थापित करके अपना वांछित लाभ प्राप्त कर लें।

इसका यह मतलब नहीं कि मुसलमान राजनीति से अलग हो जाएँ, बल्कि इसका मतलब यह है कि संस्थाओं और संगठनों के द्वारा मिलने वाले लाभों को प्राप्त करते हुए सीमित परिधि में शांतिपूर्ण राजनीतिक अमल का तरीक़ा अपनाएँ। वे राजनीतिक उपद्रवों से पूर्ण रूप से बचते हुए संभव परिधि में अपनी शांत

राजनीतिक यात्रा जारी रखें, यहाँ तक कि ईश्वर उनके लिए वह अवसर खोल दे, जो उन्हें राजनीति के संस्थान तक भी पहुँचा दे।

शांति की ताक़त

हदीस में वर्णन है कि ईश्वर नरमी पर वह चीज़ देता है, जो वह सख़्ती पर नहीं देता (सही मुस्लिम, किताबुल बर)। इस हदीस के अनुसार, शांतिपूर्ण सक्रियतावाद (peaceful activism) को हिंसावादी सक्रियतावाद (violent activism) के ऊपर स्पष्ट श्रेष्ठता प्रदान की गई है।

इस हदीस में जो बात कही गई है, वह कोई रहस्यमय बात नहीं। यह एक साधारण और ज्ञात प्राकृतिक वास्तविकता है। जंग और हिंसा की स्थिति में यह होता है कि विभिन्न पक्षों के बीच नफ़रत और दुश्मनी भड़कती है, मौजूदा संसाधन बरबाद हो जाते हैं। दोनों ओर के बेहतरीन लोग क़त्ल किए जाते हैं, पूरा समाज नकारात्मक मानसिकता का जंगल बन जाता है। ज़ाहिर है कि ऐसे वातावरण में निर्माण और दृढ़ता का कोई कार्य नहीं किया जा सकता। जंग व हिंसा में हानि तो निश्चित है, लेकिन हानि के बावजूद इसमें कोई लाभ नहीं।

इसके विपरीत अमन का माहौल हो तो लोगों के बीच संतुलित और सामान्य संबंध स्थापित होते हैं। दोस्ती और मुहब्बत में वृद्धि होती है। अनुकूल वातावरण के नतीजे में रचनात्मक गतिविधियाँ प्रगति पाती हैं। उपस्थित माध्यमों को प्रगतिशील कार्यों में इस्तेमाल करना संभव हो जाता है। लोग सकारात्मक मानसिकता में जीते हैं, जिसके आधार पर ज्ञानात्मक और वैचारिक उन्नति होती है।

जंग की सबसे बड़ी हानि यह है कि वह काम के अवसरों को बाधित करती है। इसके मुक़ाबले में अमन का सबसे बड़ा फ़ायदा यह है कि वह काम के अवसरों को अंतिम सीमा तक खोल देता है। जंग से हमेशा और ज़्यादा नुक़सान होता है और अमन से हमेशा और ज़्यादा फ़ायदा। यही कारण है कि इस्लाम हर क़ीमत पर और अंतिम सीमा तक जंग और टकराव से बचने की शिक्षा देता है और अमन को हर क़ीमत पर क़ायम करने का हुक्म देता है।

एक भ्रम की स्पष्टता

क़ुरआन में कुछ आयतें ऐसी हैं जिनका मतलब यह है— "और इन्हें क़त्ल करो, जहाँ इन्हें पाओ (2:191)।" इस प्रकार की आयतों को लेकर कुछ लोग यह भाव देने का प्रयास करते हैं कि इस्लाम जंग और संहार का धर्म है। यह एक आधारहीन बात है। इस प्रकार की आयतें सीमित रूप से केवल उन लोगों से संबंधित हैं जिन्होंने मुसलमानों पर एकतरफ़ा हमला कर दिया हो, वह इस्लाम का कोई सामान्य आदेश नहीं।

असल बात यह है कि क़ुरआन एक ही समय में संपूर्ण पुस्तक के रूप में नहीं आया, बल्कि यह 23 वर्ष की अवधि में रुक-रुककर हालात के अनुसार अवतरित हुआ। 23 वर्ष की इस अवधि को अगर शांति और जंग के कार्यकाल में विभाजित किया जाए तो लगभग 20 वर्ष की अवधि शांति से संबंधित है और लगभग 3 वर्ष की अवधि जंग से संबंधित। जंग या संहार की आयतें कथित 3 वर्ष के दौरान उतरीं। इनके अतिरिक्त 20 वर्ष की अवधि में जो आयतें उतरीं, वे सब-की-सब शांतिपूर्ण शिक्षाओं से संबंधित हैं, जैसे— ईश्वर की सृष्टि-निर्माण योजना, ईश्वर का बोध, इबादत, आचरण, न्याय आदि।

निर्देशों का यह विभाजन एक प्राकृतिक विभाजन है। यह इस प्रकार की हर पुस्तक में पाया जाता है। उदाहरणार्थ— हिंदू धर्म की पवित्र पुस्तक गीता को लीजिए। गीता में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो नीति और नैतिकता से संबंधित हैं। इसी के साथ गीता में यह भी है कि श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन, आगे बढ़ और जंग कर। इसका मतलब यह नहीं कि गीता को मानने वाले बस हर समय जंग करते रहें। जैसे इसी गीता से महात्मा गांधी ने अपना अहिंसा का फ़लसफ़ा साकार किया, क्योंकि जंग की बात गीता में अपवादिक रूप से जंग की स्थिति के लिए है, सामान्य जीवन के लिए इसमें वही शांतिपूर्ण नियम बताए गए हैं, जो महात्मा गांधी ने इससे ग्रहण किए।

इसी प्रकार बाइबल में हज़रत मसीह की ज़ुबान से यह शब्द अनुकरण किए गए हैं— "यह न समझो कि मैं धरती पर सुलह कराने आया हूँ। मैं सुलह कराने नहीं, बल्कि तलवार चलवाने आया हूँ (मत्ती, अध्याय 10)।" इन शब्दों का यह मतलब लेना उचित न होगा कि हज़रत मसीह का धर्म जंग व संहार का धर्म था। इसलिए आपकी शिक्षाओं में इस प्रकार के कथन की

हैसियत केवल अपवाद की है और किसी विशेष अवसर से संबंधित है। जहाँ तक सामान्य जीवन का संबंध है, हज़रत मसीह ने सदैव नैतिकता और प्रेम जैसे शांतिपूर्ण मूल्यों की शिक्षा दी।

यही मामला क़ुरआन का भी है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने जब मक्का से मदीना की ओर प्रवास किया तो इसके बाद अनेकेश्वरवादी क़बीलों ने आपके ख़िलाफ़ बिना कारण हमले करने आरंभ कर दिए। आप हमेशा इन हमलों को धैर्य व उपेक्षा की युक्तियों से टालते रहे। फिर भी कुछ अवसरों पर ऐसा हुआ कि जवाबी मुक़ाबले के अतिरिक्त कोई और विकल्प (option) मौजूद ही न था। इसलिए आपने वक़्ती तौर पर (temporarily) इनसे रक्षात्मक जंग की। यही वह हालात थे जिनके पेश आने पर क़ुरआन में जंग के अपवादिक निर्देश उतरे। यह निर्देश निश्चित रूप से वक़्ती थे, न कि सार्वकालिक (everlasting)। अतः क़ुरआन में पैग़ंबर-ए-इस्लाम की स्थायी हैसियत को "सारे जहानों के लिए रहमत" (21:107) बताया गया है।

इस्लाम में आतंकवाद नहीं

इस्लाम के अनुसार, आतंकवाद किसी भी हाल में जायज़ नहीं है। आतंकवाद साधारण रूप से ग़ैर-सरकारी हिंसा का दूसरा नाम है। हिंसा के द्वारा किसी उद्देश्य की प्राप्ति या ज़रूरत के समय हिंसा का नियमानुसार प्रयोग केवल स्थापित राज्य के लिए उचित है। ग़ैर-सरकारी लोग या संगठनों के लिए किसी भी हाल में और किसी भी कारण हिंसा की शैली धारण करना उचित नहीं। अगर किसी व्यक्ति या दल को कोई शिकायत हो तो इसके लिए भी उचित रूप से केवल दो विकल्प संभव हैं— या तो वह शांतिपूर्ण सीमा में रहकर अपनी शिकायत का हल तलाश करे या वह अपने मामले को अदालत और राज्य के सुपुर्द कर दे, ताकि क़ानून के अनुसार उसका कोई हल निकले।

आजकल मीडिया में अक्सर इस्लामिक आतंकवाद की परिभाषा का प्रयोग होता है। यह निःसंदेह ग़लत है। इस्लाम की आतंकवाद से कोई सबंद्धता नहीं। फिर भी इस मामले में असल ज़िम्मेदार मीडिया नहीं है, बल्कि वे मुसलमान हैं जो मीडिया को अवसर देते हैं कि वह उनके व्यवहार को इस प्रकार के शीर्षक के साथ रिपोर्ट करे।

वर्तमान समय में मुसलमान विभिन्न स्थानों पर ग़ैर-सरकारी जंग छेड़े हुए

हैं। यह सभी जंगें निश्चित रूप से धन-संपत्ति के लिए हैं या मुस्लिम सामुदायिक हितों के लिए हैं, मगर जो मुसलमान इस प्रकार के हिंसात्मक आंदोलन चला रहे हैं, वे इन्हें इस्लामी जिहाद का नाम देते हैं। अब ज़ाहिर है कि मीडिया का काम विश्लेषण करना नहीं है, बल्कि रिपोर्ट करना है। अतः मीडिया मुसलमानों के इस प्रकार के हिंसात्मक कामों को उसी तरह इस्लाम के साथ जोड़ देता है, जिस तरह स्वयं मुसलमान इनको इस्लाम के साथ जोड़े हुए हैं। ज़ाहिर है कि मुसलमान जब अपनी हिंसा को इस्लाम का शीर्षक देंगे तो मीडिया भी अपनी रिपोर्टिंग में इसे इस्लाम ही का शीर्षक देगा, न कि किसी और चीज़ का।

मुसलमानों की इस शैली ने मौजूदा ज़माने में इस्लाम को बहुत ज़्यादा बदनाम किया है, जिसके परिणामस्वरूप सारी दुनिया में इस्लाम की छवि— वास्तविकता के ख़िलाफ़— यह बन गई है कि इस्लाम नफ़रत और हिंसा का धर्म है, न कि शांति और मानवता का धर्म। उदाहरण के रूप में— नई दिल्ली के अंग्रेज़ी अख़बार हिंदुस्तान टाइम्स (1 अक्टूबर, 2001) में अमूल्या गांगुली का प्रकाशित लेख 'इस्लाम की छवि' (Image of Islam)। इसी प्रकार लंदन के अख़बार डेली टेलीग्राफ़ में प्रकाशित लेख का शीर्षक यह है—

एक धर्म जो हिंसा को वैध क़रार देता है।

A religion that sanctions violence.

इस्लाम को इस बदनामी से बचाने का अकेला उपाय यह है कि मुसलमान अपनी क़ौमी लड़ाइयों को इस्लाम का शीर्षक देना छोड़ें। इस मामले में वे जो कुछ करें, उन्हें अपने समुदाय की तरफ़ संबोधित करें, न कि इस्लाम की तरफ़; ताकि वे जो कुछ कर रहे, हैं, वह उनका अपना क़ौमी अमल समझा जाए, न कि इस्लामी और धार्मिक अमल।

जिहाद का विचार इस्लाम में

जिहाद का मूल तत्त्व जहद है। जहद का मतलब है प्रयास करना (to strive, to struggle)। इस शब्द में अतिशयोक्ति का भाव है यानी किसी कार्य में अपना भरपूर प्रयास करना। अरबी में कहा जाता है कि 'बज़्ल जहदह' या 'बज़्ल मजहूदह' मतलब इसने अपनी पूरी शक्ति के साथ भरपूर प्रयास किया। अरबी शब्दकोष 'लिसानुल अरब' में है— 'इंसान ने अमुक मामले में जद्दोजहद

की' (3:135) यानी इसने आख़िरी हद तक प्रयास कर डाला।

जिहाद अतिशयोक्ति के समानार्थ है यानी किसी कार्य में अपने समस्त प्रयास व्यय करना (लिसानुल अरब)। क़ुरआन में वर्णन है— "ईश्वर की राह में ख़ूब कोशिश करो, जैसा कि कोशिश करने का हक़ है।" (22:78)

वास्तव में अरबी भाषा में जिहाद का अर्थ केवल प्रयास या भरपूर प्रयास है। दुश्मन से जंग चूँकि प्रयास का एक रूप है, इसलिए विस्तृत भावार्थ की दृष्टि से दुश्मन के साथ जंग को भी जिहाद कह दिया जाता है। फिर भी इस दूसरे भावार्थ के लिए अरबी में वास्तविक शब्द क़िताल है, न कि जिहाद।

दुश्मन से जंग एक संयोग की घटना है, जो कभी घटती है और कभी नहीं घटती, लेकिन जिहाद एक निरंतर जारी रहने वाला कार्य है, जो मुसलमान के जीवन में हर दिन और हर रात जारी रहता है। वह कभी समाप्त नहीं होता। स्थायी जिहाद यह है कि इंसान जीवन के हर मामले में ईश्वर की इच्छा पर क़ायम रहे। इस स्थायित्व में जो भी चीज़ बाधा बने, उसे अपने जीवन पर प्रभाव न डालने दे, जैसे— मन की इच्छा, स्वार्थपरता, रस्मो-रिवाज का ज़ोर, नीतियों के तकाज़े, व्यक्तिगत अहं (ego) की समस्या, धन-संपत्ति का लालच आदि। इस प्रकार की समस्त बाधाओं को पराजित करते हुए ईश्वर के आदेश पर क़ायम रहना, यही असल जिहाद है और यही जिहाद का प्रारंभिक भावार्थ है। इस जिहाद के बारे में हदीस की किताबों में बहुत-सी हदीसें वर्णित हैं। हदीस की किताब मुसनद अहमद में कुछ हदीसें इस प्रकार हैं— मुजाहिद वह है, जो ईश्वर के लिए अपने नफ़्स से जिहाद करे (6:20); मुजाहिद वह है, जो ईश्वर के रास्ते में अपने नफ़्स से जिहाद करे (6:22); मुजाहिद वह है, जो ईश्वर के आज्ञापालन में अपने नफ़्स से जिहाद करे (6:22)।

वर्तमान संसार एक परीक्षास्थल है। यहाँ का पूरा वातावरण इस प्रकार बनाया गया है कि इंसान निरंतर इस परीक्षा की स्थिति से गुज़रता रहे। इन परीक्षा के अवसरों पर इंसान को तरह-तरह की रुकावटों का सामना करना पड़ता है, जैसे एक सत्य इसके सामने आए, मगर इसकी स्वीकृति में अपनी सामाजिक स्थिति नीचे होती हुई दिखाई दे, किसी का माल इंसान के क़ब्ज़े में हो और उसे हक़दार की तरफ़ वापस करने में अपना नुक़सान नज़र आता हो, शालीनता का जीवन गुज़ारने में अपने नफ़्स को क़ाबू करना पड़े, ग़ुस्से और प्रतिशोध की भावना को सहन करना हो, अपने आपको कमतर महसूस करना हो, न्याय की

बात बोलने से यह आशंका हो कि लोगों के बीच लोकप्रियता समाप्त हो जाएगी, स्वार्थी चरित्र के बजाय सदाचार और सैद्धांतिक जीवन को अपनाने में कुछ सुविधाओं से वंचित हो जाने का ख़तरा नज़र आता हो आदि।

इस प्रकार के विभिन्न अवसरों पर बार-बार इंसान को अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। अपने अहं की क़ुर्बानी देना आवश्यक हो जाता है, यहाँ तक कि किसी समय ऐसा प्रतीत होता है कि अपने स्वाभिमान का वध करना पड़ेगा। इस प्रकार के समस्त अवसरों पर हर बाधा को पार करते हुए और हर नुक़सान को झेलते हुए सत्य पर क़ायम रहना यही मूल व प्रारंभिक जिहाद है। जो लोग इस जिहाद पर स्थिर रहें, वही परलोक में स्वर्ग के पात्र घोषित किए जाएँगे।

जिहाद वास्तव में शांतिपूर्ण संघर्ष का अमल है। इसी शांतिपूर्ण संघर्ष का एक रूप वह है, जिसे ईश्वर की ओर आने का निमंत्रण देना व प्रचार करना कहा जाता है। क़ुरआन में कहा गया है कि इनकार करने वालों का आज्ञापालन न करो और इनके साथ क़ुरआन के द्वारा बड़ा जिहाद करो (25:52)। इसका मतलब यह कि असत्य को मानने वाले, जो बात तुमसे मनवाना चाहते हैं, उसे हरगिज़ न मानो, बल्कि क़ुरआन की शिक्षाओं का आवाहन (evocation) करो और इस कार्य में अपना अंतिम प्रयास व्यय कर दो। इस आयत में जिहाद से तात्पर्य कोई सैन्य कार्यवाही नहीं है, बल्कि इससे अभिप्राय संपूर्ण वैचारिक और सैद्धांतिक अमल है। इस अमल को एक शब्द में झूठ को झूठा साबित करना और सच को सच साबित करना कहा जा सकता है।

जिहाद, क़िताल (संहार) के अर्थ में भी अपने प्रारंभिक भावार्थ की दृष्टि से शांतिपूर्ण संघर्ष का ही दूसरा नाम है। दुश्मन की ओर से अगर फ़ौजी या सशस्त्र चुनौती दी जाए, तब भी सबसे पहले सारा प्रयास इस बात का किया जाए कि इसका उत्तर शांतिपूर्ण तरीक़े से दिया जाए। शांतिपूर्ण तरीक़े को केवल उस समय त्यागा जाएगा, जबकि इसका प्रयोग करना संभव ही न हो, जबकि संहार के उत्तर में संहार ही अकेला संभव विकल्प का रूप धारण कर ले।

इस मामले में हज़रत मुहम्मद की पत्नी आयशा का एक कथन हमारे लिए एक मार्गदर्शक नियम की हैसियत रखता है। उन्होंने कहा कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम को किसी काम को करने में दो में से एक विकल्प का चुनाव करना होता तो आप हमेशा आसान का चुनाव करते (सही बुख़ारी, किताबुल अदब)। इसका मतलब यह है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम के सामने जब किसी मामले में दो संभव विकल्प

होते— एक सरल विकल्प (easier option) और दूसरा कठिन विकल्प (difficult option)— तो आप हमेशा कठिन विकल्प को छोड़ देते और जो सरल होता, उसे चुन लेते।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम की इस सुन्नत* का संबंध जीवन के केवल सामान्य मामलों से न था, बल्कि जंग जैसे गंभीर मामले में भी था, जो अपनी विशेष अवस्था की दृष्टि से कठिन विकल्प की हैसियत रखता है। आपके जीवन-चरित्र का अध्ययन बताता है कि आपने कभी स्वयं अपनी ओर से जंग में अग्रसरता नहीं की और जब आपके विरोधियों ने आपको जंग में उलझाने का प्रयास किया तो आपने हमेशा उससे बचकर जंग को टालने का प्रयास किया। आपने केवल उस समय जंग की, जब कोई दूसरा रास्ता सिरे से बाक़ी ही न रहा। पैग़ंबर-ए-इस्लाम की सुन्नत के अनुसार, इस्लाम में ज़बरदस्ती जंग करना नहीं है, इस्लाम में केवल रक्षात्मक जंग है और वह भी केवल उस समय, जबकि इससे बचना सिरे से संभव ही न रहे।

हक़ीक़त यह है कि जीवन में हमेशा दो में से एक के चुनाव की समस्या रहती है— शांतिपूर्ण संघर्ष और हिंसापूर्ण संघर्ष। पैग़ंबर-ए-इस्लाम के जीवन-चरित्र का अध्ययन बताता है कि आपने हमेशा और हर मामले में यही किया कि हिंसापूर्ण कार्य-शैली को छोड़कर शांतिपूर्ण कार्य-शैली को धारण किया। आपका पूरा जीवन इसी नियम का एक सफल व्यावहारिक नमूना है। यहाँ इस दशा की कुछ मिसालें दर्ज की जाती हैं—

1. पैग़ंबरी मिलने के बाद फ़ौरन ही आपके सामने यह प्रश्न था कि आप कथित दोनों तरीक़ों में से किस तरीक़े को धारण करें। जैसा कि ज्ञात है, पैग़ंबर की हैसियत से आपका मिशन यह था कि अनेकेश्वरवाद को समाप्त करें और एकेश्वरवाद को स्थापित करें। मक्का में काबा इसी एकेश्वरवाद के केंद्र के रूप में बनाया गया था, मगर आपके पैग़ंबरी मिलने के समय काबा में 360 मूर्तियाँ रखीं हुई थीं। इस लिहाज़ से प्रत्यक्ष में यह होना चाहिए था कि क़ुरआन में सबसे पहले इस प्रकार की कोई आयत उतरती कि काबा को मूर्तियों से पवित्र करो और इसे दोबारा एकेश्वरवाद का केंद्र बनाकर अपने मिशन को आगे बढ़ाओ।

मगर इस काम का आग़ाज़ करना क़ुरैश से जंग करने के अर्थ के समान था,

---

* तरीक़ा, पद्धति; वह काम जो हज़रत मुहम्मद ने किया हो।

जिनका नेतृत्व अरब में इसीलिए स्थापित था कि वे काबा के प्रबंधक बने हुए थे। घटनाएँ बताती हैं कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने काबा की व्यावहारिक शुद्धि के मामले में पूर्णतः सावधानी बरती और अपने आपको केवल एकेश्वरवाद के सैद्धांतिक परिचय तक सीमित रखा। यह मानो हिंसात्मक कार्य-शैली के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण कार्य-शैली की पहली पैग़ंबराना मिसाल थी।

2. पैग़ंबर-ए-इस्लाम इसी शांतिपूर्ण नियम पर क़ायम रहते हुए 13 वर्ष तक मक्का में अपना काम करते हैं, मगर इसके बावजूद क़ुरैश आपके दुश्मन बन गए। यहाँ तक कि इनके सरदारों ने आपसी परामर्श से यह तय किया कि सब मिलकर पैग़ंबर को क़त्ल कर दें। अतः इन्होंने तलवारों से सुसज्जित होकर आपके घर को घेर लिया।

यह मानो पैग़ंबर और उनके साथियों के लिए जंग की खुली चुनौती थी, मगर आपने ईश्वर के मार्गदर्शन के तहत यह फ़ैसला किया कि जंगी मुक़ाबले की उपेक्षा की जाए। अतः आप रात के सन्नाटे में मक्का से निकले और ख़ामोशी के साथ सफ़र करते हुए मदीना पहुँच गए। इस घटना को इस्लाम के इतिहास में 'हिजरत' (प्रवास) कहा जाता है। हिजरत स्पष्ट रूप से हिंसापूर्ण कार्य-शैली के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण कार्य-शैली को धारण करने की एक मिसाल है।

3. ख़ंदक की जंग भी इसी सुन्नत की एक मिसाल है। इस अवसर पर विभिन्न क़बीलों के लोग बहुत बड़ी संख्या में जमा होकर मदीना की ओर चल पड़े। वे मदीने पर हमला करना चाहते थे। यह स्पष्ट रूप से आपके विरोधियों की ओर से एक जंगी चुनौती थी, मगर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने जंग से बचने के लिए यह तरीक़ा धारण किया कि रात-दिन मेहनत से अपने और विरोधियों के बीच एक लंबी ख़दंक खोद दी। उस समय के हालात में यह ख़ंदक़ मानो एक बाधा या अवरोधक (buffer) थी। अतः क़ुरैश की सेना खाई के दूसरी ओर कुछ दिन ठहरी रही और इसके बाद वापस चली गई। यह खाई भी जैसे हिंसापूर्ण अमल के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण अमल का चुनाव करने का एक उदाहरण है।

4. हुदैबिया संधि भी इसी प्रकार की एक सुन्नत की हैसियत रखती है। हुदैबिया के अवसर पर भी यह स्थिति थी कि पैग़ंबर और आपके साथी मक्का में प्रवेश कर उमरह करना चाहते थे, मगर मक्का के सरदारों ने हुदैबिया के स्थान पर आपको रोक दिया और कहा कि आप लोग मदीना वापस जाएँ। हम किसी क़ीमत पर आपको मक्का में प्रवेश नहीं करने देंगे। यह जैसे क़ुरैश की ओर से

आपके लिए एक खुली जंगी चुनौती थी। अगर आप अपने इरादे के अनुसार उमरह करने के लिए मक्का की ओर बढ़ते तो निश्चित था कि क़ुरैश से जंगी टकराव पेश आता, मगर आपने हुदैबिया के स्थान पर अपना सफ़र समाप्त कर दिया और क़ुरैश की एकपक्षीय शर्तों पर शांति का समझौता करके वापस आ गए। यह स्पष्ट रूप से हिंसा के मुक़ाबले में शांति का तरीक़ा धारण करने की एक पैग़ंबराना मिसाल है।

5. मक्का की विजय की घटना से भी आपकी यही सुन्नत साबित होती है। इस समय आपके पास जान न्योछावर करने वाले 10 हज़ार साथी मौजूद थे। वे निश्चित रूप से क़ुरैश से कामयाब लड़ाई लड़ सकते थे, मगर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने शक्ति का प्रयोग करने के बजाय शक्ति के प्रदर्शन का तरीक़ा अपनाया। आपके पास एक विकल्प यह भी था की आप 10 हज़ार लोगों की इस फ़ौज को लेकर ऐलान के साथ निकलें और क़ुरैश से जंगी टकराव करके मक्का पर विजय प्राप्त करें। इसके बजाय आपने यह किया कि पूरे छिपाव के साथ सफ़र की तैयारी की और अपने साथियों के साथ सफ़र करते हुए बड़ी ख़ामोशी के साथ मक्का में प्रवेश कर गए। आपका प्रवेश इतना अचानक था कि क़ुरैश आपके विरुद्ध कोई तैयारी न कर सके और मक्का किसी ख़ूनी मुठभेड़ के बिना जीत लिया गया। यह भी हिंसापूर्ण कार्य-शैली के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण कार्य-शैली को धारण करने का एक उच्च उदाहरण है। इन कुछ उदाहरणों से यह साबित होता है कि न केवल सामान्य हालात में, बल्कि बड़े कोलाहल वाले हालात में भी पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने जंग के मुक़ाबले में शांति के नियम को चुना। आपकी समस्त सफलताएँ इसी शांति की सुन्नत के व्यावहारिक उदाहरण हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस्लाम में अमन की हैसियत आम आदेश की है और जंग की हैसियत केवल विवशतापूर्ण अपवाद की। इस हक़ीक़त को सामने रखिए और फिर यह देखिए कि मौजूदा ज़माने में हालात कैसे हैं। इस मामले में मौजूदा ज़माना पुराने ज़माने से पूर्णतः अलग है। पुराने ज़माने में हिंसापूर्ण कार्य-शैली एक आम रिवाज की हैसियत रखती थी और शांति का तरीक़ा धारण करना बेहद कठिन काम था, मगर अब स्थिति पूरी तरह बदल गई है। मौजूदा ज़माने में हिंसक कार्य-शैली अंतिम सीमा तक अवांछनीय (undesirable) और अप्रिय (unpopular) बन चुकी है। इसके मुक़ाबले में सिर्फ़ शांतिपूर्ण कार्य-शैली को एक पसंदीदा कार्य-शैली की हैसियत प्राप्त हो गई

है और ज़्यादा यह कि मौजूदा ज़माने में शांतिपूर्ण कार्य-शैली को ऐसे वैचारिक और व्यावहारिक समर्थन प्राप्त हो गए हैं, जिन्होंने शांतिपूर्ण कार्य-शैली को स्वयं अपने आपमें एक अति शक्तिशाली कार्य-शैली की हैसियत दे दी है।

इन नवीन समर्थनों में बहुत-सी चीज़ें शामिल हैं, जैसे अपने विचारों को व्यक्त करने की स्वतंत्रता, आधुनिक कम्युनिकेशन के माध्यमों द्वारा अपनी बात को ज़्यादा-से-ज़्यादा फैलाने की संभावनाएँ, मीडिया की शक्ति को अपने पक्ष में प्रयोग करना आदि। इन नवीन परिवर्तनों ने शांतिपूर्ण कार्य-शैली को एक ही समय लोकप्रिय कार्य-शैली भी बना दिया और इसी के साथ ज़्यादा प्रभावशाली भी।

जैसा कि निवेदन किया गया, पैग़ंबर-ए-इस्लाम की सुन्नत यह है कि जब शांतिपूर्ण कार्य-शैली व्यवहारतः प्राप्त (available) हो तो इस्लामी संघर्ष में केवल इसी को धारण किया जाए और हिंसक संघर्ष को छोड़ दिया जाए। अब वर्तमान स्थिति यह है कि समय के परिवर्तनों के नतीजे में शांतिपूर्ण कार्य-शैली न केवल स्थायी रूप से प्राप्त है, बल्कि विभिन्न सहायक कारक (supporting factors) के आधार पर वह बहुत ज़्यादा प्रभावशाली हैसियत प्राप्त कर चुकी है। बिना अतिशयोक्ति (exaggeration) के यह कहना उचित होगा कि मौजूदा ज़माने में हिंसात्मक कार्य-शैली कठिन होने के साथ व्यावहारिक रूप से बिल्कुल अलाभकारी है, इसके मुक़ाबले में शांतिपूर्ण कार्य-शैली सरल होने के साथ-साथ अति प्रभावशाली और परिणामजनक (result oriented) है। अब शांतिपूर्ण कार्य-शैली की हैसियत दो संभावी विकल्पों (possible option) में से केवल एक विकल्प की नहीं है, बल्कि वही एकमात्र संभव और परिणामजनक विकल्प है। ऐसी हालत में यह कहना सही होगा कि अब हिंसक कार्य-शैली व्यवहारतः वर्जित हो चुकी है यानी वही चीज़ जिसे शरीअत* की भाषा में मंसूख यानी रद्द कहा जाता है। अब मुसलमानों के लिए व्यावहारिक रूप से एक ही कार्य-शैली का विकल्प बाक़ी रह गया है और वह निःसंदेह शांतिपूर्ण कार्य-शैली है। यहाँ तक कि मौजूदा ज़माने में ऐसे परिवर्तन उत्पन्न हों, जो दोबारा आदेश को बदल दें।

यह सही है कि पिछले ज़माने में बहुत से अवसरों पर हिंसात्मक कार्य-शैली को धारण किया गया, मगर इसकी हैसियत अपने ज़माने के कारणों के आधार

---

* इस्लामिक क़ानून।

पर केवल एक विवशतापूर्ण विकल्प की थी। अब जबकि ज़माने में परिवर्तन के परिणामस्वरूप यह विवशता बाक़ी नहीं रही तो हिंसक कार्य-शैली को धारण करना भी अनावश्यक और ग़ैर-मसनून (पैग़ंबर के तरीक़े से अलग) हो गया। अब नए हालात में केवल शांतिपूर्ण कार्य-शैली का चुनाव किया जाएगा। जहाँ तक जिहाद के मामले का संबंध है, शांति की हैसियत सामान्य नियम की है, और जंग की हैसियत कभी-कभी घटित होने वाले अपवाद की।

मौजूदा ज़माने में इस मामले का एक शिक्षाप्रद उदाहरण भारतीय लीडर महात्मा गाँधी के जीवन में मिलता है। इसी सामयिक परिवर्तन के आधार पर महात्मा गांधी के लिए यह संभव हुआ कि वे भारत में पूर्ण राजनीतिक लड़ाई लड़ें और इसे सफलता की मंज़िल तक पहुँचाएँ और यह सब कुछ आरंभ से अंत तक अहिंसा के सिद्धांत (non-violent method) और शांतिपूर्ण सक्रियतावाद (peaceful activism) के नियम को धारण करके अंजाम तक पहुँचाया।

फ़िक़ह* का एक ज्ञात नियम है कि समय और स्थान के बदलने से आदेश बदल जाते हैं। इस स्वीकार्य फ़िक़ही नियम की माँग है कि जब ज़माने के हालात बदल चुके हों तो शरीअत के आदेशों की पुनः प्रासंगिकता (Re-application) तलाश की जाए, ताकि शरीअत के आदेशों को वर्तमान समय के अनुकूल बनाया जा सके। इस फ़िक़ही नियम का संबंध जिस प्रकार दूसरे मामलों से है, इसी प्रकार निश्चित रूप से इसका संबंध जंग के मामले से भी है। इस नियम की यह भी माँग है कि हिंसात्मक कार्य-शैली को अब व्यवहारतः वर्जित घोषित कर दिया जाए और केवल शांतिपूर्ण कार्य-शैली को शरीअती औचित्य (justification) का दर्जा दिया जाए।

मौजूदा ज़माने के जिहादी आंदोलन

मौजूदा ज़माने में इस्लामी जिहाद के नाम से बहुत से देशों के मुसलमान सशस्त्र जिहाद के आंदोलन चला रहे हैं, मगर कोई आंदोलन मात्र इस आधार पर जिहाद का आंदोलन नहीं हो सकता कि इसके लीडरों ने इसे जिहाद का नाम

---

* इस्लामिक धर्मशास्त्र।

दिया हो। कोई अमल उस समय इस्लामी जिहाद क़रार पाता है, जबकि वह इस्लाम की निर्धारित की हुई शर्तों पर पूरा उतरे। जिहाद की शर्तों को पूरा करे बिना जो जिहाद किया जाए, वह व्यवहारतः जिहाद नहीं होगा, बल्कि फ़साद होगा। जो लोग इस काम में व्यस्त हों, वे अपने इस काम पर जिहाद का पुरस्कार नहीं पाएँगे, बल्कि ईश्वर की तरफ़ से वे दंड के पात्र होंगे।

जंग के अर्थ में जिहाद की शर्तें क्या-क्या हैं, इसे मैं अपनी पुस्तकों में विस्तार से लिख चुका हूँ। यहाँ केवल एक बात को स्पष्ट करना ज़रूरी है, वह यह कि जंग के अर्थ में जिहाद की हैसियत रोज़ा और नमाज़ जैसे व्यक्तिगत कर्म की नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा कर्म है जिसका संबंध पूर्ण रूप से राज्य से है।

वह जिहाद जो संहार या जंग के अर्थ में है जिसे क़िताल कहा जाता है, उसकी सैद्धांतिक हैसियत क़ुरआन व हदीस के स्पष्ट आदेशों से मालूम होती है। जैसे क़ुरआन में आदेश दिया गया है कि दुश्मन की ओर से भय होने की स्थिति पैदा हो तो इसे लेकर ख़ुद से इसके ख़िलाफ़ कार्यवाही शुरू न करें, बल्कि इसे हुकूमत के लोगों की तरफ़ लौटाएँ, ताकि वे मामले की सही दशा को समझें और इसके बारे में सही और आवश्यक क़दम उठाएँ (9:83)। यह आयत बताती है कि ख़ौफ़ पेश आने की स्थिति में प्रजा के लिए स्वयं अग्रसरता करना जायज़ नहीं। वह केवल यह कर सकती है कि मामले को शासक के हवाले कर दे और शासक की ओर से जो कार्यवही की जाए, इसमें उसका साथ दे।

इसी प्रकार हदीस में यह वर्णन है— “निःसंदेह इमाम* ढाल है, जंग इसके नेतृत्व में की जाती है और इसके द्वारा सुरक्षा प्राप्त की जाती है (सही बुख़ारी, किताबुल जिहाद)।” इससे मालूम हुआ कि जंगी बचाव हमेशा शासक के नेतृत्व में किया जाएगा। आम मुसलमानों का कर्तव्य केवल यह होगा कि वे शासक का अनुसरण करें और उसका साथ देकर राज्य की योजना को सफल बनाएँ।

इस्लामी धर्मशास्त्र के इस मामले में सभी विद्वान एकमत हैं जिसमें संभवतः किसी वर्णन योग्य विद्वान का मतभेद नहीं। इस्लामी धर्मशास्त्र इस बात पर पूरी तरह सहमत है कि जंग की घोषणा केवल एक स्थापित सरकार ही कर सकती है, प्रजा को इस प्रकार की घोषणा करने का अधिकार नहीं। इसलिए धर्मशास्त्र में यह मसला है कि जंग की घोषणा करना केवल राज्य का काम है।

---

* नेतृत्वकर्ता, मार्गदर्शन करने वाला।

असल बात यह है कि जंग एक व्यवस्थित कार्यवाही (planned action) का नाम है। इस प्रकार का व्यवस्थित काम केवल आधिकारिक सरकार ही कर सकती है। यही कारण है कि जंग की कार्यवाही केवल सरकार के लिए जायज़ है, प्रजा के लिए जंग की कार्यवाही करना सिरे से जायज़ ही नहीं।

मौजूदा ज़माने में विभिन्न स्थानों पर मुसलमान जिहाद के नाम पर हुकूमतों से हिंसक टकराव छेड़े हुए हैं, मगर बिना अपवाद (without exception) इनमें से हर एक की हैसियत फ़साद की है, न कि इस्लामी जिहाद की। इसकी वजह यह है कि उनमें से कोई भी जिहाद किसी सरकार की ओर से जारी नहीं किया गया है।

आजकल की भाषा में इनमें से हर एक जिहाद ग़ैर-सरकारी संगठनों (NGOs) की ओर से आरंभ किया गया और उन्हीं की ओर से इन्हें चलाया जा रहा है। अगर इनमें से किसी जिहादी चेष्टा को मान लें किसी मुस्लिम हुकूमत का समर्थन प्राप्त है तो यह समर्थन बिना घोषणा केवल ख़ुफ़िया अंदाज़ में किया जा रहा है और शरीअत के अनुसार किसी मुस्लिम राज्य को भी जिहाद का हक़ केवल उस समय है, जबकि वह नियमानुसार इसकी घोषणा करे (क़ुरआन, 8:58)। घोषणा के बिना किसी मुस्लिम राज्य के लिए भी जंग करना जायज़ नहीं।

मौजूदा ज़माने में विभिन्न क्षेत्रों में मुसलमानों की ओर से जिहाद के नाम पर जो गतिविधियाँ जारी हैं, आजकल की भाषा में वह दो प्रकार की हैं— या तो इसकी हैसियत गोरिल्ला वार (gorilla war) की है या प्रॉक्सी वार (proxy war) की और यह दोनों ही प्रकार की जंगें निश्चित रूप से इस्लाम में अवैध हैं। गोरिल्ला वार इसलिए जायज़ नहीं कि वह ग़ैर-सरकारी संगठनों की ओर से चलाया जाता है, न कि किसी स्थापित हुकूमत की ओर से और प्रॉक्सी वार इसलिए जायज़ नहीं कि हुकूमत इसे बिना घोषणा जारी करवाती है और घोषणा के बिना जंग इस्लाम में जायज़ नहीं।

बहस का सारांश

इस्लामी जिहाद एक सकारात्मक और निरंतर चलने वाला कार्य है। वह मोमिन* के पूरे जीवन में बराबर जारी रहता है। इस संघर्षपूर्ण अमल के तीन महत्त्वपूर्ण प्रकार हैं—

1. जिहादे-नफ़्स (स्वयं से जिहाद) का मतलब है अपनी नकारात्मक भावनाओं और अपने भीतर की अवांछनीय इच्छाओं पर क़ाबू पाना और हर हाल में ईश्वर के पसंदीदा रास्ते पर जमे रहना।
2. जिहादे-दावत का मतलब है ईश्वर के संदेश को समस्त लोगों तक पहुँचाना और इसके लिए एकपक्षीय सहानुभूति और हितैषी होने के साथ-साथ भरपूर प्रयास करना।
3. जिहादे-आदाअ का मतलब है सत्य धर्म के विरोधियों का सामना करना और धर्म को हर हाल में सुरक्षित और क़ायम रखना। यह जिहाद पहले भी वास्तव में एक शांतिपूर्ण अमल था और अब भी यह मूलतः एक शांतिपूर्ण अमल है। इस दृष्टि से जिहाद एक शांतिपूर्ण संघर्ष है, न कि हक़ीक़त में कोई सशस्त्र कार्यवाही।

---

* सच्ची निष्ठा से ईश्वर के आदेशों का पालन करने वाला ईश्वरभक्त।

अमन कल्चर

अमन क्या है?

विद्वान शांति को जंग की अनुपस्थिति (absence of war) से परिभाषित करते हैं। कलात्मक रूप से यह परिभाषा बिल्कुल दुरुस्त है। किसी समाज में जब हिंसा और जंग न हो तो इसके बाद वहाँ जो हालात पैदा होंगे, इसी का नाम अमन है। जब भी इंसानों के बीच हिंसा और जंग की हालत न हो तो उसके बाद अमन की हालत अपने आप क़ायम हो जाएगी।

फिर भी किसी समाज में अमन की हालत क़ायम होना साधारण रूप से केवल यह नहीं है कि वहाँ जंग और हिंसा का अंत हो गया हो। जंग और हिंसा का समाप्त होना इस मामले का कमतर पहलू है। इसका स्वीकार्य पहलू यह है कि जब भी किसी समाज में वास्तविक अर्थों में शांति स्थापित हो जाए तो उसके बाद अनिवार्यतः ऐसा होगा कि लोगों के भीतर सकारात्मक गतिविधियाँ जारी हो जाएँगी। हर व्यक्ति एकाग्रता के साथ अपने जीवन का निर्माण करने में लग जाएगा।

किसी समाज के भीतर शांति का स्थापित होना ऐसा ही है, जैसे दरिया के सामने से बाँध को हटा देना। मानव जीवन बहते दरिया की तरह स्वयं अपने बल पर प्रवाहित होना चाहता है। वह केवल उस समय रुकता है, जबकि उसके सामने कोई कृत्रिम रुकावट खड़ी कर दी जाए। रुकावट न हो तो स्वयं प्रकृति के ज़ोर पर जीवन की समस्त गतिविधियाँ जारी हो जाएँगी।

जंग व हिंसा की हैसियत जीवन में रुकावट की तरह है और शांति अपने परिणाम की दृष्टि से यह है कि जीवन की दौड़ के समस्त मार्ग अंतिम सीमा तक खोल दिए गए हों।

शांति का अध्ययन सामान्य रूप से जंग के संदर्भ में किया जाता है, मगर यह शांति का बहुत सीमित भावार्थ हैं। हक़ीक़त यह है कि इसका संबंध संपूर्ण मानव जीवन से है। शांति अपने आपमें एक संपूर्ण आइडियोलॉजी है। शांति

'मास्टर की' (master key) है जिससे हर सफलता का द्वार खुल सकता है। शांति हर कार्य की सफलता के लिए अनुकूल वातावरण बनाती है। शांति के साथ हर काम किया जा सकता है और शांति के बिना किसी भी कार्य को करना संभव नहीं। यह बात छोटे मामलों के लिए भी दुरुस्त है और बड़े मामलों के लिए भी।

सृष्टि का धर्म शांति है

क़ुरआन के अध्याय नं० 36 में कहा गया है— "न सूरज के वश में है कि चाँद को पकड़ ले और न रात दिन से पहले आ सकती है और सब एक दायरे (orbit) में तैर रहे हैं।" (36-40)

क़ुरआन की इस आयत में एक आकाशीय घटना के संदर्भ से बताया गया है कि संसार की व्यवस्था किस नियम पर स्थापित है। सृष्टि के अंदर अनगिनत चीज़ें हैं। यहाँ हर चीज़ निरंतर सक्रिय है, मगर किसी चीज़ का दूसरी चीज़ से टकराव नहीं होता। सृष्टि का हर अंश अपनी-अपनी परिधि में अपना काम अंजाम देता है। यहाँ का कोई भाग किसी दूसरे भाग की कार्य-परिधि में प्रवेश नहीं करता। इसलिए एक का दूसरे से टकराव नहीं होता।

यही अमन कल्चर इंसान से भी वांछनीय है। इंसान को भी यही करना है कि वह सृष्टि के इसी सार्वभौम नियम को अपने जीवन में अपना ले, वह भी टकराव के मार्ग को छोड़कर अमन के मार्ग पर चलने लगे।

सृष्टि का कल्चर अमन कल्चर है। इसी अमन का यह नतीजा है कि सृष्टि अरबों वर्ष से चल रही है, मगर इसमें कोई टकराव पेश नहीं आया, जो इसकी व्यवस्था में कोई विघ्न डाल दे। सृष्टि में अगर हिंसा कल्चर का रिवाज होता तो अब तक सृष्टि आपस में टकराकर तबाह हो चुकी होती। वह हमारे लिए रहने योग्य सांसारिक रूप से मौजूद ही न होती।

जिस रचयिता ने सृष्टि को निर्मित किया है, उसी ने इंसानों को भी निर्मित किया है। रचयिता चाहता है कि उसने विशाल सृष्टि में जो अमन कल्चर स्थापित किया हुआ है, इंसान भी उसी अमन कल्चर को अपनाए, केवल इस अंतर के साथ कि यह अमन कल्चर शेष सृष्टि में प्रकृति के बल पर स्थापित है। इंसान एक आज़ाद प्राणी है। इंसान से यह चाहा गया है कि वह अमन कल्चर को स्वयं अपने इरादे से और अपने फ़ैसले के तहत अपने जीवन में अपनाए।

क़ुरआन एक अमन की किताब

क़ुरआन निःसंदेह एक अमन की किताब है, वह जंग और हिंसा की किताब नहीं। क़ुरआन के समस्त वक्तव्य प्रत्यक्ष रूप से (directly) या अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) अमन से संबंधित हैं। क़ुरआन का पहला वाक्य ''बिस्मिल्लाह हिर रहमान निर रहीम'' है जिसका मतलब है कि ईश्वर अत्यंत कृपाशील और अत्यंत दयावान है। दूसरे शब्दों में यह कि ईश्वर ने यह किताब भेजी है। उसका सबसे बड़ा गुण करुणा है और यह किताब ईश्वर के इसी कृपाशील गुण का प्रकटन है।

क़ुरआन की समस्त आयतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शांतिपूर्ण शिक्षाओं पर आधारित हैं। क़ुरआन की कुल आयतों की संख्या 6,666 है। इनमें तक़रीबन चालीस आयतें ऐसी हैं, जो जंग के आदेशों को बयान करती हैं यानी एक फ़ीसदी से भी कम आयतें ज़्यादा व्यवस्थित रूप से कुल आयतों के मुक़ाबले में केवल दशमलव छः प्रतिशत (0.6 percent)।

जो लोग क़ुरआन को ईश्वर की किताब मानते हैं, वे क़ुरआन के अनुसार मोमिन केवल उस समय माने जाएँगे, जबकि वे क़ुरआन की इस शिक्षा का अनुसरण करते हुए पूर्ण रूप से शांतिप्रिय बन जाएँ। वे किसी भी हाल में हिंसा का रवैया न अपनाएँ।

यहाँ एक बात और कहना ज़रूरी है कि लोगों को चाहिए कि वे इस्लाम और मुसलमान के बीच अंतर करें। वे मुसलमानों के व्यवहार को इस्लाम की शिक्षा का नाम न दें। हक़ीक़त यह है कि मुसलमानों के व्यवहार को इस्लाम की कसौटी से जाँचा जाएगा, न यह कि इस्लाम को मुसलमानों के व्यवहार से समझा जाने लगे। इस्लाम एक सिद्धांत है। मुसलमान उसी समय मुसलमान हैं, जबकि वे इस्लामी शिक्षाओं का अनुसरण करें। जो लोग इस्लामी शिक्षाओं को छोड़ दें, उनका इस्लाम से कोई संबंध नहीं, चाहे वे अपने आपको इस्लाम का चैंपियन बताते हों।

शांति और हिंसा में अंतर

शांति एक योजनाबद्ध अमल है और हिंसा केवल भड़ककर आक्रामक कार्यवाही करने का नाम है। शांतिप्रिय इंसान पहले सोचता है और इसके बाद

वह अमल करता है। हिंसाप्रिय इंसान पहले कर डालता है, इसके बाद वह सोचता है। शांतिपूर्ण अमल में पहले भी उम्मीद है और आख़िर में भी उम्मीद और हिंसापूर्ण अमल में पहले फ़र्ज़ी उम्मीद है और आख़िर में केवल मायूसी।

शांतिप्रिय इंसान सच्चाई पर खड़ा होता है और हिंसक इंसान झूठ पर, शांतिपूर्ण मार्ग आरंभ से अंत तक खुला हुआ मार्ग है और हिंसा का मार्ग रुकावटों से भरा हुआ मार्ग। शांति में निर्माण-ही-निर्माण है और हिंसा में विध्वंस-ही-विध्वंस। शांतिप्रिय इंसान दूसरों के प्रेम में जीता है और हिंसाप्रिय इंसान दूसरों की नफ़रत में। शांति का अंत कामयाबी पर होता है और हिंसा का अंत शर्मिंदगी पर।

शांति से कोई काम बिगड़ता नहीं और हर काम बन जाता है। हिंसा से कोई काम बनता नहीं है, बल्कि हर काम बिगड़ जाता है। शांति का तरीक़ा इंसानियत का तरीक़ा है और हिंसा का तरीक़ा हैवानियत का तरीक़ा। शांति का अमल क़ानून के दायरे में होता है और हिंसा का अमल क़ानून के दायरे के बाहर।

शांतिप्रिय इंसान समस्याओं को नज़रअंदाज़ करके अवसरों को इस्तेमाल करता है और हिंसाप्रिय इंसान अवसरों को गँवाकर समस्याओं के ख़िलाफ़ बेफ़ायदा लड़ाई लड़ता रहता है। शांति का अमल प्यार व मुहब्बत का बाग़ उगाता है और हिंसा का अमल नफ़रत और दुश्मनी का जंगल उगाता है। अमन कल्चर फ़रिश्तों का कल्चर है और हिंसा का कल्चर शैतानों का कल्चर।

अमन में ईश्वर के हक़ भी अदा होते है और इंसानों के हक़ भी और हिंसा में इंसानों के अधिकारों की भी ख़िलाफ़वर्ज़ी होती है और ईश्वर के हक़ों की भी ख़िलाफ़वर्ज़ी। अमन अगर स्वर्ग है तो हिंसा उसके मुक़ाबले में नरक।

अमन और जंग दोनों समान नहीं। अमन किसी इंसान के लिए एक सच्चा चुनाव (choice) है और जंग केवल इस बात का सबूत है कि इंसान सच्चे विकल्प को न पा सका, वह चुनाव की परीक्षा में नाकाम हो गया।

दुनिया में बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं, जो मौजूद तो हैं, लेकिन वे परीक्षा के लिए हैं, वे वांछित नहीं। जैसे शराब दुनिया में मौजूद है, मगर शराब इसलिए नहीं है कि कोई इंसान उसका सेवन करे; बल्कि शराब इसलिए है कि इंसान उससे बचकर यह साबित करे कि वह अच्छे और बुरे के बीच भेद करना जानता है। वह एक सतर्क इंसान है। यही मामला जंग का भी है। हालाँकि प्रत्यक्ष रूप में जंग का तरीक़ा क़ाबिल-ए-इस्तेमाल है, मगर किसी इंसान के लिए उच्च शैली यही है कि वह जंग के तरीक़े को इस्तेमाल न करे।

इस्लाम के शुरुआती दौर में जो हालात थे, उसमें आत्मरक्षा के लिए जंग की अनुमति दी गई थी, मगर यह अनुमति आवश्यकता के नियम अनुसार (law of necessity) थी। अब नए हालात में यह ज़रूरत बाक़ी नहीं रही, इसलिए अब जंग की भी ज़रूरत नहीं।

सुलह बेहतर है

क़ुरआन में प्रकृति के एक नियम को इन शब्दों में बताया गया है— "सुलह बेहतर है (4:128)।" सुलह का मतलब समझौता (reconciliation) है। सुलह की प्रक्रिया हमेशा दो पक्षों के बीच होती है। जब दो पक्षों के बीच किसी कारणवश विवाद हो जाए तो एक तरीक़ा यह होता है कि दोनों हिंसक टकराव का तरीक़ा अपना लें और दूसरा तरीक़ा यह है कि तुरंत समझौता करके विवादित हालात को समाप्त कर दिया जाए।

फिर भी बहुत कम ऐसा होता है कि यह समझौता दोनों पक्षों की समान इच्छाओं के अनुसार हो। ज़्यादातर हालात में यह समझौता एकपक्षीय आधार पर होता है, मतलब एक पक्ष अपनी इच्छा को पीछे रखकर दूसरे पक्ष की इच्छा पर मामला समाप्त करने पर राज़ी हो जाए।

इस प्रकार के एकपक्षीय समझौते को बेहतर क्यों कहा गया। इसका कारण यह है कि विवाद की स्थिति रचनात्मक कार्य (creative work) को रोक देती है। समझौते पर राज़ी होने का लाभ व्यक्ति को यह मिलता है कि वह अपने समय और अपनी शक्ति का कोई भाग अनावश्यक टकराव में नष्ट किए बिना अपने रचनात्मक संघर्ष को जारी रखे और समझौतावादी तरीक़ा हर स्थिति में लाभ का तरीक़ा होता है।

मानव इतिहास बताता है किसी व्यक्ति या दल ने जब भी कोई सफलता प्राप्त की है तो उसने यह सफलता समझौतावादी तरीक़ा धारण करने के बाद प्राप्त की है। टकराव और लड़ाई का तरीक़ा धारण करके इस दुनिया में वास्तविक सफलता कभी किसी को प्राप्त नहीं हुई। सुलह का यह महत्त्व इसलिए है कि सुलह से इंसान को यह अवसर मिलता है कि प्राप्त अवसरों को भरपूर तौर पर अपने पक्ष में इस्तेमाल किया जाए, जबकि टकराव के तरीक़े में यह होता है कि सारी शक्ति दूसरों का विनाश करने में नष्ट हो जाती है। निर्माण का कोई कार्य सिरे से अंजाम नहीं पाता। हालाँकि प्रगति का राज़ अपनी स्थिरता और निर्माण में है, न कि परिकल्पित दुश्मन को बरबाद करने में।

धरती मे फ़साद नहीं

क़ुरआन के अध्याय नं० 2 में एक चरित्र को इन शब्दों में बताया गया है— “जब उनसे कहा जाता है कि तुम ज़मीन में फ़साद न करो तो वे कहते हैं कि हम तो सुधार करने वाले लोग हैं।” (2:11)

क़ुरआन की इस आयत में जिस चरित्र का वर्णन है, उससे अभिप्राय वह लोग हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से एक सुधारवादी उद्देश्य के लिए सक्रिय हों, मगर उनका तरीक़ा सही न हो। उनका तरीक़ा ऐसा हो, जो व्यवहारतः फ़साद और बिगाड़ पैदा करने वाला हो। लोग एक-दूसरे से नफ़रत करने लगें, लोगों के अंदर नैतिक संवेदना कमज़ोर हो जाए, लोगों के अंदर नकारात्मक मानसिकता पैदा हो । इस प्रकार की समस्त चीज़ें ‘धरती मे फ़साद’ की हैसियत रखती हैं, क्योंकि इससे सामाजिक शांति समाप्त होती है। यहाँ तक कि लड़ाई और टकराव की स्थिति आ जाती है।

क़ुरआन की इस शिक्षा से मालूम होता है कि किसी काम के सही होने के लिए केवल यह काफ़ी नहीं कि प्रत्यक्ष में वह एक अच्छे उद्देश्य के लिए शुरू किया गया हो। इसी के साथ अनिवार्य रूप से यह देखना होगा कि सुधार के नाम पर की जाने वाली गतिविधियाँ नकारात्मक परिणाम उत्पन्न करें तो प्रत्यक्ष में सुधार का नाम लेने के बाद भी उनकी गतिविधियाँ उपद्रवी गतिविधियाँ ही कही जाएँगी। ऐसे लोग इंसानियत के अपराधी ठहराए जाएँगे, न कि इंसानियत के सुधारक और सेवक।

कोई भी सुधारवादी कार्य केवल उस समय सुधारवादी कार्य होता है, जब शांति और इंसानियत के दायरे में किया जाए। सुधार के नाम पर किया जाने वाला वह काम ग़लत है, जो सामाजिक शांति को अस्त-व्यस्त करे, जिसके परिणामस्वरूप जान-माल की तबाही हो। सुधार के लिए जो काम किया जाए, उसका परिणाम भी सुधारवादी होना चाहिए। जो सुधार अपने परिणामस्वरूप फ़साद हो, वह वास्तविकता में फ़साद ही है, चाहे उसे कितने ही ज़्यादा सुंदर शब्दों में बताया गया हो।

साज़िश का ख़ात्मा

क़ुरआन के अध्याय नं० 3 में कहा गया है— “अगर तुम सब्र करो और ईश्वर का तक़वा* अपनाओ तो उनकी कोई साज़िश तुम्हें हरगिज़ नुक़सान न पहुँचाएगी (3:120)।” क़ुरआन की इस आयत में ज़िंदगी की एक अहम हक़ीक़त को बताया गया है। वह यह कि वर्तमान संसार में किसी व्यक्ति या गिरोह के लिए असल मसला यह नहीं है कि उसके कुछ दुश्मन हों, जो उसके ख़िलाफ़ साज़िश कर रहे हों, बल्कि असल बात यह है कि उस व्यक्ति या गिरोह के भीतर धैर्य और सतर्कता की शैली मौजूद नहीं, जो हर साज़िश को निश्चित रूप से नाकाम बना सकती है।

वर्तमान संसार में षड्यंत्र की हैसियत अगर बारिश की है तो सब्र व तक़वे की हैसियत मज़बूत छत की और यह एक मालूम हक़ीक़त है कि बारिश केवल उन लोगों लिए समस्या है, जिन्होंने अपने लिए मज़बूत छत न बनाई हो। जिनके पास मज़बूत छत हो, उनके लिए बारिश की समस्या कोई वास्तविक समस्या नहीं।

वर्तमान संसार की व्यवस्था प्रतिस्पर्धा (competition) के नियम पर बनी है, इसलिए यहाँ स्वाभाविक रूप से ऐसा होता है कि एक पक्ष और दूसरे पक्ष के बीच प्रतिद्वंद्विता स्थापित हो जाती है, जो बढ़कर षड्यंत्र तक पहुँच जाती है। जब भी किसी के ख़िलाफ़ ऐसी हालात उत्पन्न हो तो उसे दुश्मन के षड्यंत्र के स्थान पर प्रकृति के एक क़ानून का प्रकटन समझाना चाहिए। षड्यंत्र को प्रकृति का नियम समझना इंसान के अंदर यह सोच पैदा करता है कि वह अच्छी युक्ति के द्वारा अपने आपको इसके आघात से बचाए। ठीक उसी तरह, जैसे एक व्यक्ति बारिश के मुक़ाबले में विरोध प्रकट नहीं करता, बल्कि इससे बचने के लिए घर और छत की व्यवस्था करता है।

---

* ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा तथा भय रखते हुए दुष्कर्मों एवं बुराइयों से परहेज़ करना।

चरमपंथ नहीं

क़ुरआन के अध्याय नं० 4 में एक आदेश इन शब्दों में वर्णित है— "तुम अपने दीन में ग़ुलू न करो (4:171)।" यही बात हदीस में भी वर्णित है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "तुम लोग दीन में ग़ुलू से बचो, क्योंकि पिछली उम्मतें* दीन में ग़ुलू की वजह से हलाक हो गईं (सुनन इब्ने माजह, 3029)।"

ग़ुलू का मतलब अतिशयोक्ति या हद से गुज़र जाना (extremism) है। ग़ुलू हर मामले में ग़लत है। ग़ुलू दीन की मूल आत्मा के ख़िलाफ़ है। ग़ुलू का यही स्वभाव बढ़कर हिंसा और लड़ाई तक पहुँच जाता है। जो लोग ग़ुलू की मानसिकता का शिकार हों, वे अपने विशेष स्वभाव के आधार पर संतुलन की शैली पर संतुष्ट नहीं होते। वे शांति और संतुलन की शैली को कसौटी से कम समझते हैं, इसलिए वे बड़ी सरलता के साथ हिंसा की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। वे उद्देश्य की प्राप्ति के नाम पर लड़ाई आरंभ कर देते हैं।

ग़ुलू का विपरीत संतुलन है। जब लोगों के अंदर संतुलन की मानसिकता हो तो वे हमेशा शांति के अंदाज़ में सोचेंगे, वे अपने संघर्ष को शांतिपूर्ण रूप से चलाएँगे। हक़ीक़त यह है कि संतुलन और शांति दोनों एक-दूसरे के साथ बड़ी गहराई से जुड़े हुए हैं। जहाँ संतुलन होगा, वहाँ शांति होगी। जहाँ शांति होगी, वहाँ संतुलन पाया जाएगा।

इसके विपरीत ग़ुलू की मानसिकता हमेशा इंसान को अतिवाद की ओर ले जाती है और अतिवाद बड़ी सरलता के साथ हिंसा और टकराव में परिवर्तित हो जाता है। अतिवाद और हिंसा दोनों एक-दूसरे के साथ बहुत गहरा संबंध रखते हैं। यही कारण है कि दीन में ग़ुलू को बहुत ज़्यादा नापसंद किया गया है। यह कहना सही होगा कि ग़ुलूपसंदी का दूसरा नाम हिंसापसंदी है और ग़ुलू न करने का दूसरा नाम है संतुलनपसंदी।

एक इंसान की हत्या सारी इंसानियत की हत्या

क़ुरआन में वर्णन है— "अगर किसी ने ऐसे व्यक्ति की हत्या की हो, जिसने किसी को क़त्ल न किया हो या न ज़मीन में फ़साद किया हो तो मानो उसने सारी

* ईश्वर की ओर से नियुक्त पैग़ंबर को मानने वाला समुदाय।

इंसानियत को क़त्ल कर डाला।" (5:32)

क़त्ल एक बहुत ही भयानक अमल है। किसी व्यक्ति को क़त्ल करना उस समय जायज़ है, जबकि वह सामाजिक शांति के लिए ख़तरा बन गया हो और कोई विकल्प न हो। वास्तविक औचित्य के बिना किसी एक इंसान को क़त्ल करना भी तमाम इंसानों के क़त्ल करने के बराबर है, क्योंकि इससे जान के आदर की परंपरा टूटती है। एक इंसान को नाहक़ क़त्ल करना प्रत्यक्ष में एक सरल कार्य दिखाई देने लगता है।

शराब के बारे में हदीस में वर्णन है कि जिस चीज़ की ज़्यादा मात्रा नशा करे, उसकी थोड़ी मात्रा भी वर्जित है। यही मामला क़त्ल का भी है। बहुत से इंसानों को क़त्ल करना जितना भयानक है, उतना ही भयानक एक इंसान को क़त्ल करना भी है। दोनों के बीच अंतर केवल डिग्री का है, अवस्था की दृष्टि से दोनों के बीच कोई अंतर नहीं।

क़ुरआन की इस आयत से यह मालूम होता है कि इस्लाम में अमन व सलामती की कितनी ज़्यादा महत्ता है। इस्लाम का तकाज़ा है कि अगर किसी समाज में एक इंसान का क़त्ल कर दिया जाए तो पूरा-का-पूरा समाज उस पर तड़प उठे। समाज में दोबारा अमन व सुरक्षा की हालत को क़ायम करने के लिए इस प्रबंध के साथ काम किया जाए, जैसे कि किसी ने एक व्यक्ति को क़त्ल नहीं किया है, बल्कि उसने पूरी मानवता पर हमला कर दिया है।

हिंसा की आग बुझाना

क़ुरआन में वर्णन है— "जब भी वे लोग जंग की आग भड़काते हैं तो ईश्वर उस आग को बुझा देता है।" (5:64)

क़ुरआन की इस आयत से मालूम होता है कि रचयिता की योजना वर्तमान संसार के बारे में क्या है। यह योजना शांति के नियम पर आधारित है । इसका मतलब यह है कि जब भी एक पक्ष लड़ाई की आग भड़काने पर तत्पर हो तो दूसरे पक्ष को चाहिए कि वह शांतिपूर्ण युक्ति से उसे बुझा दे, ताकि हिंसा की आग फैलने न पाए। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए कि एक पक्ष अगर बम मारे तो दूसरा पक्ष जवाबी बम से उसका मुक़ाबला करे। ईश्वर की इस ज़मीन पर जीने का सही तरीक़ा यह नहीं है कि एक बम के बदले में दूसरा बम मारा जाए। सही और

वांछित तरीक़ा यह है कि बम को अप्रभावी (defuse) कर दिया जाए।

यह ईश्वरीय ऐलान बताता है कि एक बम के ऊपर दूसरा बम मारना शैतान का काम है। इसके विपरीत ईश्वर को जो तरीक़ा प्रिय है, वह यह कि बम को अप्रभावी बना दिया जाए, बम को उसके पहले चरण में ही अप्रभावी कर दिया जाए, ताकि अमन का माहौल बिगड़ने से बच जाए।

समाज में अप्रिय हालात का उत्पन्न होना बिल्कुल प्राकृतिक बात है। कोई इंसानी समाज अप्रिय बातों से ख़ाली नहीं हो सकता। ऐसी हालत में समस्या का असल हल यह नहीं है कि स्वयं नाख़ुशगवारी को समाप्त करने का प्रयास किया जाए, बल्कि इस समस्या का असल हल यह है कि एक नाख़ुशगवारी पर दूसरी नाख़ुशगवारी को बढ़ाया न जाए। एक बम के ऊपर दूसरा बम न मारा जाए। इस प्रकार नाख़ुशगवारी को फैलने से पहले रोककर उसे समाप्त कर दिया जाए। यही इस समस्या का हल है, इसके सिवा इस समस्या का कोई दूसरा हल संभव नहीं।

सुधार के बाद फ़साद

क़ुरआन में वर्णन है— “ज़मीन में बिगाड़ पैदा न करो, बाद इसके कि उसका सुधार किया जा चुका हो; यह तुम्हारे लिए बेहतर है, अगर तुम यक़ीन करने वाले हो।” (7:85)

क़ुरआन की इस आयत में एक प्राकृतिक हक़ीक़त का ऐलान किया गया है। यह धरती जिस पर इंसान आबाद है, वह अपनी उत्पत्ति की दृष्टि से परिपूर्ण है। यहाँ की हर चीज़ अपने वांछित नक़्शे के अनुसार बनाई गई है। इसका मतलब यह है कि इंसान को चाहिए कि वह इस धरती पर जो भी काम करे, उसे वह प्रकृति के नक़्शे को बदले बग़ैर करे। अगर उसने प्रकृति के नक़्शे को बदला तो उसका नतीजा यह होगा कि एक ऐसी स्थापित व्यवस्था टूट जाएगी, जो सुधार की तरफ़ ले जाती है और हर तरफ़ बिगाड़ फैल जाएगा।

जैसे हमारी दुनिया में प्रकृति की व्यवस्था के तहत अनगिनत गतिविधियाँ जारी हैं। धरती की निरंतर गर्दिश, सूरज से उसका रोशन होना, हवाओं का चलना और पेड़-पौधों का उगना आदि। धरती पर इस प्रकार के अनगिनत काम रात-दिन निरंतर जारी हैं, मगर यह सारे काम अंतिम सीमा तक शांतिपूर्ण

रूप से हो रहे हैं। कहीं कोई हिंसा नहीं, कहीं एक-दूसरे के बीच कोई टकराव नहीं। यही सुधार का सही नक़्शा है। इंसान को चाहिए कि वह भी इसी नक़्शे पर चले। वह हिंसा और टकराव से पूर्ण रूप से परहेज़ करे। वह अपना हर प्रयास शांति के नियम पर जारी करे। जो लोग इसके ख़िलाफ़ चलेंगे, वे निश्चित रूप से धरती पर फ़साद करेंगे, वे कभी धरती पर सुधार की व्यस्था क़ायम करने वाले नहीं।

उपेक्षा, न कि टकराव

क़ुरआन में आदेश दिया गया है— "तुम नादान लोगों से एराज़ करो।" (7:199)

एराज़ का मतलब उपेक्षा (avoidance) है और उपेक्षा का उल्टा टकराव (confrontation) होता है। उपेक्षा का तरीक़ा इंसान को शांतिपूर्ण परिधि में सीमित रखता है और टकराव का तरीक़ा उसे दूसरे पक्ष के मुक़ाबले में हिंसात्मक कार्यवाही की तरफ़ ले जाता है।

वर्तमान संसार में कोई इंसान या गिरोह अकेला नहीं है। उसके सिवा दूसरे बहुत से लोग हैं, जो अपने-अपने उद्देश्य रखते हैं, हर एक का अपना अलग एजेंडा है। यही कारण है कि इस दुनिया में बार-बार एक-दूसरे का आमना-सामना होता है। बार-बार एक व्यक्ति, गिरोह या दलों के बीच दुश्मनी हो जाती है।

ऐसी हालत में इंसान के लिए दो रास्ते हैं— उपेक्षा या टकराव यानी इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा रास्ता नहीं। अब इंसान अगर टकराव का रास्ता अपनाए तो दोनों पक्षों के बीच लड़ाई होगी। सारे इतिहास के अनुभव बताते हैं कि लड़ाई से केवल दिल की भड़ास निकलती है— वास्तविक अर्थों में इसका कोई लाभ नहीं। इसलिए इंसान को चाहिए कि वह टकराव से हट जाए और उपेक्षा का तरीक़ा अपनाए। उपेक्षा का तरीक़ा न केवल और ज़्यादा हानि से बचाता है, बल्कि वह इंसान को यह अवसर देता है कि वह अपनी उन्नति की यात्रा को किसी बाधा के बिना जारी रख सके। उपेक्षा का अमल प्रत्यक्षतः दूसरे पक्ष के मुक़ाबले में होता है, मगर उपेक्षा का उद्देश्य स्वयं अपने आपको बेफ़ायदा टकराव से बचाना है। उपेक्षा का उद्देश्य यह है कि अपनी यात्रा को किसी बाधा के बिना जारी रखा जाए।

सब्र तरक़्क़ी का राज़

क़ुरआन में वर्णन है— "तुम सब्र (धैर्य) करो, क्योंकि ईश्वर सब्र करने वालों के साथ है।" (8:46)

एक वर्णन के अनुसार, पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "जान लो, बेशक जो चीज़ तुम्हें नापसंद है, उस पर सब्र करने में तुम्हारे लिए भलाई है और कामयाबी सब्र के साथ है और प्रगति परिश्रम के साथ है और हर मुश्किल के साथ आसानी है (मुसनद अहमद अल-जुज़, 307:1)।"

ज़्यादातर ऐसा होता है कि जब किसी के सामने मुश्किल हालात आएँ या उसे कोई कड़वा अनुभव पेश आए तो वह घबरा उठता है और बहुत-सी बार हिंसा पर उतर आता है, लेकिन इस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रकृति से बेख़बरी (unawareness) का परिणाम है। हक़ीक़त यह है कि प्रकृति का क़ानून हमेशा उन लोगों का साथ देता है, जो सत्य और न्याय पर हों। सच्चा इंसान या गिरोह अगर जल्दबाज़ी न करे और सब्र से काम ले तो कामयाबी अपने आप उसकी तरफ़ चली आती है।

ज़्यादातर नाकामी उन लोगों के हिस्से में आती है, जो जल्दबाज़ी से काम लेते हैं और उत्तेजित होकर समय से पहले कार्यवाही कर बैठते हैं। इसके विपरीत जो लोग सब्र का तरीक़ा अपनाएँ, उनके लिए हमेशा ऐसे साधन पैदा होते हैं, जो उनको कामयाबी की मंज़िल तक पहुँचा दें।

क़ुरआन के अनुसार, 'सब्र' का उल्टा 'उजलत' है (46:35) यानी धैर्य का उल्टा जल्दबाज़ी है। इसका मतलब यह है कि जब तक एक इंसान धैर्य की शैली धारण किए रहता है तो वह प्रकृति के नक़्शे का अनुसरण कर रहा होता है और जब वह जल्दबाज़ी की शैली धारण करता है तो वह प्रकृति के नक़्शे से हट जाता है और जो इंसान प्रकृति के नक़्शे से हट जाए, उसके लिए ईश्वर की इस दुनिया में कामयाबी संभव नहीं।

विवाद नहीं

क़ुरआन में वर्णन है— "वे तुमसे इस मामले में झगड़ा न करें और लोगों को तुम अपने रब की तरफ़ बुलाओ (22:67)।" इस आयत में झगड़ा न करने

का मतलब यह है कि तुम उन्हें झगड़े का अवसर न दो, मतलब यह कि जब भी तुम्हारे और दूसरे पक्ष के बीच कोई मतभेद की बात पेश आए तो उसे शांतिपूर्ण बातचीत की परिधि में सीमित रखो। ऐसा हरगिज़ न होने दो कि मतभेद अपनी प्रारंभिक सीमा से गुज़रकर व्यावहारिक झगड़ा बन जाए और हिंसक मुक़ाबले की नौबत आ जाए।

वर्तमान संसार में हमेशा ऐसा होता है कि किसी-न-किसी बात पर दो पक्षों के बीच तनाव पैदा हो जाता है। यह तनाव स्वयं अपने आप एक प्राकृतिक चीज़ है। वह हर हाल में हर मुक़ाम पर पैदा होगा। असल ध्यान रखने वाली बात यह है कि इस तनाव या मतभेद को हद से आगे न बढ़ने दिया जाए। मतभेद का अमन के दायरे में रहना उसका हद के अंदर रहना है। मतभेद का टकराव या हिंसा के दायरे में पहुँच जाना उसका हद को पार करना है। हद के अंदर कोई भी मतभेद बुरा नहीं, मगर हद के बाहर चले जाने के बाद हर मतभेद बुरा बन जाता है।

क़ुरआन की इस आयत में उद्देश्यवान इंसान की कार्य-प्रणाली को बताया गया है। एक इंसान जो एक गंभीर और बड़े उद्देश्य के लिए उठा हो, उसकी कामयाबी के लिए अवश्यक है कि उसके और दूसरों के बीच केवल वही चीज़ चर्चा में आए, जो कि उसका वास्तविक उद्देश्य है। दोनों के बीच किसी और चीज़ का चर्चा में आना उद्देश्यवान इंसान के लिए ज़हर की हैसियत रखता है।

अब सवाल यह है कि दोनों के बीच ऐसी स्थिति कैसे क़ायम हो, जिसमें कोई टकराव न हो। जवाब यह है कि यह वातावरण केवल उस इंसान के एकतरफ़ा (unilateral) सब्र के द्वारा क़ायम हो सकता है, जो एक सकारात्मक उद्देश्य अपने साथ लेकर उठता है। व्यावहारिक तौर पर इसके सिवा कोई और स्थिति संभव नहीं। उद्देश्यवान इंसान को यह करना पड़ता है कि वह एकतरफ़ा उपेक्षा के द्वारा अपने और दूसरे पक्ष के बीच संतुलित वातावरण क़ायम रखे, ताकि उसकी यात्रा किसी विराम के बिना जारी रहे।

जंग केवल रक्षा के लिए

क़ुरआन के अध्याय नं० 22 में कहा गया है— "उन लोगों को जंग की इजाज़त दी गई है जिनके ख़िलाफ़ जंग की जा रही है, क्योंकि वे मज़लूम हैं।" (22:39)

क़ुरआन की यह आयत केवल एक आयत नहीं, यह एक अंतर्राष्ट्रीय क़ानून को बताती है। इसमें यह बात तय कर दी गई है कि जायज़ जंग केवल वह है, जो आक्रमणकारियों के मुक़ाबले में आत्मरक्षा के लिए लड़ी जाए। जंग की हर दूसरी क़िस्म ज़ुल्म की हैसियत रखती है और ज़ालिमों के लिए ईश्वर की इस दुनिया में कोई जगह नहीं। इस आयत के अनुसार रक्षात्मक जंग भी केवल घोषणा के साथ लड़ी जा सकती है, बिना घोषणा के नहीं। और ज़्यादा यह कि रक्षात्मक जंग भी केवल एक स्थापित सरकार लड़ सकती है, ग़ैर-सरकारी संस्थान (NGO) और आम लोगों को किसी भी कारणवश लड़ाई छेड़ने की अनुमति नहीं। इन शिक्षाओं को सामने रखिए तो मालूम होगा कि क़ुरआन के निर्धारित किए हुए जंगी क़ानून के अनुसार मजबूरी में रक्षात्मक जंग के सिवा हर जंग अवैध है, जैसे— गोरिल्ला जंग, प्रॉक्सी जंग, अघोषित जंग, अकारण आक्रमण, यह सब-की-सब निःसंदेह इस्लाम में अवैध हैं।

जंग एक हैवानी काम है, जंग कोई इंसानी काम नहीं। हक़ीक़त यह है कि प्रकृति के क़ानून के अनुसार अमन एक नियम (rule) है और जंग केवल एक अपवाद (exception)। अमन हर हाल में धारण योग्य चीज़ है, जबकि जंग केवल मजबूरी के समय अपने बचाव के लिए की जाती है, वह भी उस समय जबकि टकराव से बचने की सभी शांतिपूर्ण युक्तियाँ नाकाम हो गई हों।

धैर्य का तरीक़ा समर्थन प्राप्त तरीक़ा

क़ुरआन में वर्णन है— “तुम लोग सब्र (धैर्य) करो, निःसंदेह ईश्वर उन लोगों के साथ होता है, जो सब्र करते हैं।” (8:46)

धैर्यशील कार्य-प्रणाली को दूसरे शब्दों में शांतिपूर्ण कार्य-प्रणाली कहा जा सकता है। इसके मुक़ाबले में दूसरी कार्य-प्रणाली हिंसात्मक कार्य-प्रणाली है। कथित आयत प्रकृति के इस क़ानून को बताती है कि वर्तमान संसार में जो लोग शांतिपूर्ण कार्य-प्रणाली को अपनाएँ, उनका हाल यह होता है कि प्रकृति के समस्त साधन उनकी सहायता में सक्रिय हो जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग हिंसक कार्य-प्रणाली अपनाएँ, वे प्राकृतिक क़ानूनों के समर्थन से वंचित हो जाते हैं और जो लोग प्राकृतिक क़ानूनों के समर्थन से वंचित हो जाएँ, उनके लिए ईश्वर की इस दुनिया में नाकामी और बरबादी के सिवा कुछ भी नहीं।

धैर्य के तरीक़े का मतलब क्या है? धैर्य यह है कि इंसान अप्रिय बातों पर अपनी सहनशीलता न खोए, ताकि इसकी सकारात्मक सोच अस्त-व्यस्त न होने पाए। वह संभव व असंभव में अंतर करे और संभव को अपना प्रारंभिक बिंदु बनाए। वह तुरंत परिणाम का इच्छुक न हो, बल्कि धीरे-धीरे अपनी कोशिश जारी रखे और परिणाम का इंतज़ार करे। वह नुक़सान पर निराश न हो, बल्कि भविष्य को सामने रखते हुए अपना कर्म जारी रखे। जो कुछ आज मिलने वाला है, उसे आज प्राप्त करे और जो कुछ कल मिलने वाला है, उसके लिए वह प्रतीक्षा की पॉलिसी अपनाए। वह अपनी इच्छा को प्रकृति के क़ानून के मातहत रखे, न कि प्रकृति के क़ानून को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने का प्रयत्न करे। हक़ीक़त यह है कि धैर्य पूर्ण रूप से एक सकारात्मक अमल है, धैर्य कोई छीनी हुई या लज्जाजनक शैली नहीं।

शांतिपूर्ण सैद्धांतिक प्रचार

क़ुरआन में सत्यवानों को संबोधन करते हुए कहा गया है— "तुम उनके ऊपर जिहाद करो, बड़ा जिहाद, क़ुरआन के द्वारा।" (25:52)

जैसा कि मालूम है कि क़ुरआन एक किताब है, एक सैद्धांतिक किताब। वह कोई तलवार नहीं। ऐसी हालत में क़ुरआन के द्वारा जिहाद का मतलब यही हो सकता है कि क़ुरआन के विचारों को लोगों तक पहुँचाया जाए। क़ुरआन के संदेश को शांतिपूर्ण शैली में लोगों के बीच आम किया जाए। क़ुरआन के सिद्धांत को तार्किक शैली में बयान करके उसे लोगों के लिए स्वीकार्य बनाया जाए।

इस आयत से स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि इस्लाम में जिस चीज़ को जिहाद कहा गया है, वह शांतिपूर्ण संघर्ष (peaceful struggle) है, इसका हिंसा से कोई संबंध नहीं। जिहाद का शब्द अरबी भाषा में अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयास के लिए बोला जाता है, मतलब बहुत ज़्यादा परिश्रम करना, किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपना अंतिम प्रयास व्यय कर देना।

इस आयत से मालूम हुआ कि हिंसक प्रयास के मुक़ाबले में शांतिपूर्ण प्रयास ज़्यादा बड़ा है। कोई इंसान जब हिंसात्मक कार्य-शैली धारण करे तो उसकी कार्य-परिधि सीमित होती है, लेकिन जब वह शांतिपूर्ण कार्य-शैली धारण करे तो उसकी कार्य-परिधि असीमित सीमा तक बढ़ी हुई होती है। हिंसात्मक

कार्य-शैली में केवल तलवार और बंदूक़ उपयोगी है, लेकिन शांतिपूर्ण कार्य-शैली में हर चीज़ इंसान के लिए माध्यम और द्वार बन जाती है, यहाँ तक कि बंद कमरे में इस्तेमाल होने वाला एक क़लम भी।

दुश्मन को दोस्त बनाना

क़ुरआन में वर्णन है— "भलाई और बुराई दोनों बराबर नहीं। तुम जवाब में वह कहो, जो उससे बेहतर हो, फिर तुम देखोगे कि तुममें और जिसमें दुश्मनी थी। वह ऐसा हो गया, जैसे कोई क़रीबी दोस्त।" (41:34)

क़ुरआन की इस आयत में प्रकृति का एक राज़ बताया गया है। वह राज़ यह है कि दुश्मन के अंदर एक दोस्त छुपा होता है। इस दोस्त की खोज कीजिए और फिर यह चमत्कारिक घटना पेश आएगी कि जो इंसान प्रत्यक्ष में तुम्हारा दुश्मन दिखाई देता है, वह तुम्हारा दोस्त बन जाएगा।

असल यह है कि दुश्मनी कोई प्राकृतिक चीज़ नहीं, वह एक कृत्रिम (unnatural) प्रतिक्रिया है। जब भी किसी कारण से कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से तुम्हारा दुश्मन बन जाए तो तुम उसके साथ प्रतिक्रिया (reaction) का तरीक़ा धारण न करते हुए उसके साथ अच्छा व्यवहार करने का प्रयास करो, चाहे यह अच्छा व्यवहार तुम्हें अपेक्षित दुश्मन की उत्तेजक कार्यवाहियों के बावजूद एकतरफ़ा बुनियाद पर करना पड़े।

तुम्हारा एकतरफ़ा व्यवहार यह करेगा कि दुश्मन के अंदर उत्पन्न होने वाली नकारात्मक भावनाओं को दबा देगा। तुम्हारा एकतरफ़ा व्यवहार दुश्मन की सोई हुई इंसानियत को जगाकर उसे एक नया इंसान बना देगा और यह नया इंसान वही होगा, जिसे क़ुरआन में क़रीबी दोस्त के शब्दों में बताया गया है।

हक़ीक़त यह है कि हर पैदा होने वाला इंसान एक ही साझा प्रकृति पर पैदा होता है। हर इंसान पहले मिस्टर नेचर है, उसके बाद वह मिस्टर दुश्मन या मिस्टर दोस्त बनता है। इसका मतलब यह है कि जो आप हैं, वही आपका परिकल्पित दुश्मन भी है और जो आपका परिकल्पित दुश्मन है, वही स्वयं आप भी हैं। इसलिए इंसान को चाहिए कि प्रत्यक्ष दुश्मनी के बावजूद दूसरे पक्ष के अंदर अपने साझा इंसान को तलाश करें। वह दूसरों से भी वही आशा रखे, जो आशा वह अपने आपसे किए हुए है।

स्वयं अपने कर्म का परिणाम

क़ुरआन में कहा गया है— "जो भी मुसीबत तुम्हारे ऊपर पड़ती है, वह केवल तुम्हारे अपने कर्मों का परिणाम होती है।" (42:30)

क़ुरआन की इस आयत में इस हक़ीक़त को बताया गया है कि वर्तमान दुनिया कार्य-कारण (cause and effect) के नियम पर स्थापित है— जैसे कर्म, वैसा परिणाम। यह आयत यह शिक्षा देती है कि किसी इंसान पर जब भी कोई मुसीबत पड़े तो उसे चाहिए कि उसका कारण वह स्वयं अपने अंदर खोजे, न कि वह अपने से बाहर इसका कारण तलाश करने लगे।

जीवन की यह वास्तविकता जिस इंसान के ज़हन में बैठ जाए, वह ऐसा नहीं कर सकता कि किसी को अपनी मुसीबत का ज़िम्मेदार बताकर उसके ख़िलाफ़ हिंसा का मामला करने लगे। इसके बजाय वह केवल यह करेगा कि निष्पक्ष (unbiased) रूप से अपने जीवन का निरीक्षण करेगा। वह स्वयं अपनी ग़लतियों की खोज करेगा, ताकि अपनी ग़लतियों का सुधार करके वह मुसीबत का शिकार होने से बच जाए। मुसीबत का हवाला देकर दूसरों के ख़िलाफ़ कार्यवाही करना ऐसा ही है, जैसे कोई मरीज़ अपने मर्ज़ का ज़िम्मेदार अपने पड़ोसी को बताकर उससे लड़ने लगे।

एक शहर जहाँ का ट्रेफिक नियम दाएँ चलो (keep right) के नियम पर स्थापित हो, वहाँ अगर कोई व्यक्ति बाएँ चलो (keep left) के नियम पर अपनी गाड़ी दौड़ाने लगे तो निश्चित रूप से उसकी गाड़ी दुर्घटना का शिकार हो जाएगी।

यह दुर्घटना प्रत्यक्ष में दूसरे की गाड़ी के टकराने से पेश आई होगी, मगर आप यह कहने का अधिकार नहीं रखते कि दूसरे पक्ष ने टक्कर मारकर आपको घायल कर दिया। इसके विपरीत उचित रूप से आपको केवल यह कहना चाहिए कि मैं ग़लत दिशा में चला रहा था और दूसरे पक्ष की गाड़ी सही दिशा में, इसलिए दूसरे पक्ष की गाड़ी मेरी गाड़ी से टकरा गई।

यही मामला जीवन के दूसरे समस्त पक्षों का भी है। आपको जब भी अपने जीवन में किसी नुक़सान से दो-चार होना पड़े तो अग्रिम रूप से समझ लीजिए कि जो कुछ हुआ, वह स्वयं आपकी ग़लती के आधार पर हुआ है। यही जीवन के मामले में सही सोच है। अगर आप सही अंदाज़ में सोचें तो अपना सुधार करके अपने भविष्य को बचा लेंगे और अगर आप इसके

विपरीत यह करें कि अपनी मुसीबत का इल्ज़ाम दूसरों को देते रहें तो आप अपने भविष्य को भी बरबाद करेंगे और आपका अतीत व वर्तमान तो पहले ही बरबाद हो चुका है।

ग़ुस्सा एक कमज़ोरी

क़ुरआन में सच्चे इंसानों की तारीफ़ करते हुए कहा गया— “जब उन्हें ग़ुस्सा आता है तो वे माफ़ कर देते हैं।” (42:37)

इसका मतलब सादा तौर पर केवल ग़ुस्सा आने पर माफ़ करना या उसे भुला देना नहीं है, बल्कि इसका मतलब ग़ुस्से की मानसिकता से ऊपर उठकर व्यवहार करना है। इसका मतलब यह है कि ग़ुस्सा दिलाने के बाद भी इंसान बिना ग़ुस्सा होकर सोचे, वह ग़ुस्से से प्रभावित हुए बिना इसका जवाब दे।

ग़ुस्सा एक कमज़ोरी है और ग़ुस्सा न करना एक ताक़त है। इंसान अगर ग़ुस्सा न हो तो वह स्थिति को मैनेज कर सकता है। वह हर मामले को अपने अनुकूल बना सकता है। ग़ुस्सा इंसान की बुद्धि को छिन्न-भिन्न कर देता है। ऐसा इंसान मामले की स्थिति को न तो सही रूप से समझ सकता है और न सही रूप से उसका उत्तर दे सकता है। कोई इंसान जब ग़ुस्सा हो जाए तो तुरंत वह हिंसा की ओर जाता है, हालाँकि हिंसा किसी समस्या का समाधान नहीं। जो इंसान अपने ग़ुस्से को क़ाबू में रखे, वह समस्या का शांतिपूर्ण हल तलाश करेगा और शांतिपूर्ण समाधान ही किसी समस्या का अकेला विश्वसनीय समाधान है।

इंसान के ज़हन में असाधारण योग्यताएँ छुपी हुई हैं। इंसान अगर ग़ुस्सा न हो तो वह इस योग्य होता है कि वह अपने ज़हन की योग्यताओं का अपने पक्ष में भरपूर प्रयोग करे, मगर जब इंसान ग़ुस्सा हो जाए तो उसके ज़हन का संतुलन बिगड़ जाता है। वह इस क़ाबिल नहीं रहता कि अपनी ज़हनी योग्यता का अपने पक्ष में भरपूर प्रयोग करे। ग़ुस्सा न होना जीत है और ग़ुस्सा होना उसके मुक़ाबले में हार।

सत्य पर धैर्य के साथ जमना

“वे लोग जिन्होंने एक-दूसरे को सच्चाई की नसीहत की और जिन्होंने एक-दूसरे को सब्र की नसीहत की।” (103:3)

क़ुरआन की इस आयत में बताया गया है कि वे कौन लोग हैं, जो घाटे से बचते हैं और जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं।

जब भी कोई इंसान सच्चाई के रास्ते पर क़ायम होता है या लोगों को सच्चाई की ओर बुलाता है तो हमेशा ऐसा होता है कि बहुत से लोग उसके विरोधी बन जाते हैं। उसे लोगों की ओर से प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। ऐसे समय में सच्चाई पर चलने वाले इंसान का काम यह है कि वह धैर्य का तरीक़ा धारण करे, वह पेश आने वाली कठिनाइयों को अपने ऊपर सहन करे, वह उनको दूसरों के ऊपर उड़ेलने का प्रयास न करे।

धैर्य, क्षति न पहुँचाने का दूसरा नाम है। इसका मतलब यह है कि सत्यनिष्ठ इंसान को चाहिए कि वह हिंसा के मुक़बाले में जवाबी हिंसा न करे। वह एकतरफ़ा तौर पर अपने आपको शांतिपूर्ण कार्य-शैली का पाबंद बनाए। इसी शैली का दूसरा नाम धैर्य है।

सत्य और हिंसा दोनों एक साथ जमा नहीं हो सकते। जो इंसान सत्य को लेना चाहे तो उसे हिंसा छोड़नी पड़ेगी। हिंसा चाहे किसी भी कारण से जाए, वह हिंसा है। हर हिंसा समान रूप से विनाशकारी है। कोई सुंदर कारण हिंसा को उसके विनाशकारी प्रभावों से बचा नहीं सकता।

सत्य की प्राप्ति के नाम पर हिंसा करना स्वयं सत्य को नकारना है। जो लोग सत्य के नाम पर हिंसा करें, वे अपने बारे में यह साबित करते हैं कि उनका केस सच्चाई का केस नहीं है। सच्चाईपसंद इंसान कभी हिंसापसंद इंसान नहीं हो सकता। जो इंसान हिंसा को पसंद करे, वह निश्चित ही सच्चाईपसंद नहीं, चाहे वह बतौर अपने आपको सच्चाई का चैंपियन क्यों न समझाता हो।

शांति का मूल्य

हर चीज़ की एक क़ीमत होती है। कोई नई चीज़ किसी इंसान को उस समय मिलती है, जबकि वह उसकी क़ीमत अदा करने को तैयार हो। ज़रूरी क़ीमत अदा किए बिना इस दुनिया में किसी को अपनी वांछित चीज़ नहीं मिलती। यही मामला शांति का भी है। कोई व्यक्ति या दल उसी समय शांति को प्राप्त कर सकता है, जबकि वह उसकी वांछित क़ीमत अदा करे। शांति की यह क़ीमत नुक़सान को सहन करना है।

यह हक़ीक़त क़ुरआन के अध्याय नं० 2 में इस प्रकार बयान की गई है— “हम ज़रूर तुम्हें आज़माएँगे, कुछ डर और भूख से और धन-संपत्ति और जानों और फलों की कमी से और साबित क़दम (धैर्यवान) रहने वालों को ख़ुशख़बरी दे दो, जिनका हाल यह है कि जब उन पर कोई मुसीबत पहुँचती है तो वे कहते हैं— हम ईश्वर के हैं और हम उसी की तरफ़ लौटने वाले हैं।” (2:155-156)

क़ुरआन की इस आयत में ज़िंदगी की हक़ीक़त को बताया गया है। वर्तमान संसार की व्यवस्था जिस क़ानून के अंतर्गत बनी है, उसके अनुसार ऐसा होना आवश्यक है कि लोगों को विभिन्न प्रकार के नुक़सान उठाने पड़े। कभी उन्हें दूसरों की ओर से चुनौती पेश आए, कभी उन्हें आर्थिक तंगी का शिकार होना पड़े, कभी उन्हें संपत्ति व माल में कमी का अनुभव हो, कभी वे किसी दुर्घटना का शिकार हो जाएँ, कभी वे किसी ऐसे लाभ से वंचित हो जाएँ जिसे वे अपना अधिकार समझते थे आदि।

इस प्रकार के दुखद अनुभव प्रकृति के क़ानून के अनुसार इस दुनिया में हर एक को कभी-न-कभी पेश आएँगे। ऐसी हालत में लोग अगर हानि को सहन न करें तो इसी के परिणाम का नाम हिंसा है और अगर वे इसे सहन कर लें तो इसी के परिणाम का नाम शांति है।

नुक़सान होने पर धैर्य और सहनशीलता का तरीक़ा धारण करना हारने की बात नहीं। यह हिम्मत और हौसले की बात है। यह वास्तविकता को अपनी इच्छा से स्वीकार करना है। इसका मतलब एक चीज़ खोने के बाद यह विश्वास रखना है कि बहुत-सी दूसरी चीज़ें अब भी उसके पास मौजूद हैं, जिनके सहारे वह दोबारा से अपने जीवन का निर्माण कर सकता है।

धैर्य व सहनशीलता का फ़ायदा यह है कि किसी चीज़ को खोने के बाद भी इंसान अपने संतुलन को नहीं खोता। वह सामयिक असफलता के बावजूद अपनी इस योग्यता को बाक़ी रखता है कि वह मौजूदा हालात पर संतुलित अंदाज़ में विचार करे। वह मामले का वास्तविक (realistic) निरीक्षण करके दोबारा से अपने जीवन की योजना बनाए। वह खोए हुए को भुलाकर बाक़ी रहने वाली चीज़ों के आधार पर दोबारा अपने कार्य को व्यवस्थित करे। वह निराशा के बजाय युक्ति से काम ले और फिर से जीवन की यात्रा आरंभ कर दे।

वर्तमान संसार का एक गुण यह है कि यहाँ हर शाम के बाद दोबारा सुबह

होती है। दुनिया संभावनाओं और अवसरों से भरी हुई है। यहाँ एक अवसर खोने के बाद इंसान को दूसरे अवसर मिल जाते हैं। कामयाबी की एक सीढ़ी से वंचित होने के बाद उसके लिए दूसरी सीढ़ी के द्वार खुल जाते हैं। इस प्रकार इस संसार में बार-बार यह संभावना मौजूद रहती है कि एक नक़्शा टूटने के बाद इंसान दूसरे नक़्शे को इस्तेमाल करके अपने जीवन का नव-निर्माण कर ले।

हक़ीक़त यह है कि इस संसार में हर बुरी ख़बर के साथ एक अच्छी ख़बर शामिल रहती है। हर घटना इंसान को ख़ामोश ज़ुबान में यह ख़ुशख़बरी देती है कि तुम निराश न हो, बल्कि साहस से काम लेकर नए अवसरों की तलाश करो। अगर तुमने ऐसा किया तो प्रकृति की व्यवस्था अग्रिम रूप से तुम्हें यह ख़ुशख़बरी देती है कि तुम्हारा खोना स्थायी खोना (permanent loss) नहीं बनेगा, बल्कि जल्द ही तुम अपने लिए एक नई और ज़्यादा बेहतर दुनिया का निर्माण कर लोगे, जल्द ही तुम्हारी पराजय एक नए प्रकार का मार्गदर्शन साबित होगी।

जो लोग नुक़सान को सहन न करें, वे नकारात्मक सोच का शिकार होकर अपने जीवन को एक बोझ बना लेते हैं और दूसरों के लिए भी बोझ बन जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग धैर्य और साहस से काम लें, वे अतीत के खंडहर पर अपने लिए एक नए महल का निर्माण कर लेते हैं। वे एक शाम के बाद दोबारा अपने लिए एक नई सुबह तलाश कर लेते हैं, जिसकी रोशनी में वे अपनी यात्रा रुके बग़ैर जारी रख सकें।

सुलह की पेशकश को स्वीकार करना

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ज़माने में क़ुरैश के अत्याचार के परिणामस्वरूप क़ुरैश और मुसलमानों के बीच जंग की स्थिति क़ायम हो गई थी। इस अवसर पर जो आदेश क़ुरआन में दिए गए हैं, उनमें से एक आदेश यह था— “अगर वे समझौते की तरफ़ झुकें तो तुम भी सुलह के लिए झुक जाओ और ईश्वर पर भरोसा रखो। बेशक ईश्वर सुनने और जानने वाला है और अगर वे तुम्हें धोखा देना चाहेंगे तो ईश्वर तुम्हारे लिए काफ़ी है।” (8:61-62)

क़ुरआन की इस आयत से मालूम होता है कि इस्लाम में शांति अंतिम सीमा तक वांछनीय है, यहाँ तक कि अगर रिस्क (risk) लेकर शांति स्थापित होती हो तो रिस्क लेकर भी शांति को स्थापित किया जाए। जैसा कि क़ुरआन

की इस आयत में शिक्षा दी गई है। जंग की स्थिति के दौरान अगर दूसरा पक्ष समझौते की पेशकश करे तो बिना देरी के उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। मान लें अगर यह संदेह हो कि सुलह की पेशकश में धोखा छुपा हुआ है, तब भी इस भरोसे दूसरे पक्ष से सुलह की जाए कि ईश्वर हमेशा शांतिप्रिय लोगों के साथ होता है, न कि फ़रेब देने वालों के साथ।

इससे और ज़्यादा यह हक़ीक़त मालूम होती है कि इस दुनिया में शांति हमेशा वही लोग स्थापित करते हैं, जो उच्च साहस के स्वामी हों। वर्तमान संसार में हमेशा एक और दूसरे पक्ष के बीच समस्याएँ उपस्थित रहती हैं। हमेशा अधिकारों और अन्याय की समस्याएँ पाई जाती हैं। ऐसी हालत में वही लोग शांति स्थापित कर सकते हैं, जो हर दूसरी ज़रूरतों से ऊपर उठकर सोचें, जो किसी भी चीज़ को कारण न बनाएँ। केवल ऐसे साहसी लोग ही दुनिया में शांति स्थापित करते हैं। जिन लोगों के अंदर यह साहस न हो, वे केवल लड़ते रहेंगे, वे शांति का इतिहास नहीं बना सकते।

ज़्यादा बड़ा रिज़्क

क़ुरआन के अध्याय में पैग़ंबर-ए-इस्लाम को संबोधित करते हुए जीवन की एक हक़ीक़त को इस प्रकार बताया गया है— “तुम हरगिज़ उन चीज़ों की तरफ़ आँख उठाकर भी न देखो, जिनको हमने उनके कुछ समूहों को उनकी परीक्षा के लिए उन्हें दे रखी हैं और तुम्हारे रब का रिज़्क़* ज़्यादा बेहतर है और बाक़ी रहने वाला है।” (20:131)

असल यह है कि जीवन के दो भिन्न पहलू हैं। एक यह कि इंसान भौतिक संसार को अपना लक्ष्य बनाए। वह धन-संपत्ति में अपनी सफलता तलाश करे। इन चीज़ों में हमेशा ऐसा होता है कि एक और दूसरे के बीच अंतर होता है। ज़्यादा यह कि यही तात्त्विक चीज़ें हैं, जिनमें छीना-झपटी का मामला चलता रहता है। इसलिए जो लोग मोह-माया (material world) में जीते हों, वे एक सिरे से अधिकार-हनन या वंचित होने की भावना का शिकार रहते हैं। यह अहसास बार-बार ईर्ष्या और प्रतिशोध एवं हिंसा के रूप में प्रकट होता है।

जीवन का दूसरा पहलू यह है कि इंसान पाने के अहसास (sense of

* जीविका, आहार।

achievement) में जीता हो। ऐसा इंसान अपने आपमें संतुष्ट होगा। उसके भीतर पाने का अहसास उसे इससे बचाएगा कि वह दूसरों के ख़िलाफ़ नफ़रत करे या उनके ख़िलाफ़ हिंसा की योजना बनाए।

पाने का यह अहसास किन लोगों को प्राप्त होता है। यह वे लोग हैं, जिनको क़ुरआन के शब्दों में 'रिज़्क़े-रब' (ईश्वरीय आहार) मिल रहा हो। रिज़्क़े-रब से अभिप्राय यह है कि इंसान को यह विश्वास हो कि उसने सच्चाई को पा लिया है। उसने इस हक़ीक़त को खोज लिया हो कि रचयिता ने उसे जो अस्तित्व दिया है, वह सोने-चाँदी के समस्त भंडारों से ज़्यादा क़ीमती है। वह इस प्रकार सचेत मस्तिष्क के साथ दुनिया में रहे कि पूरी सृष्टि उसके लिए वैचारिक व आध्यात्मिक भोजन का दस्तरख़्वान (table mat) बन जाए।

जो इंसान दुनिया से इस प्रकार का ईश्वरीय आहार पा रहा हो, वह इतना ज़्यादा ऊपर उठ जाता है कि धन-संपत्ति जैसी चीज़ें उसके लिए तुच्छ बन जाती हैं। उसकी यह मानसिकता अपने आप उसे शांतिप्रिय बना देती है। नफ़रत और हिंसा जैसी चीज़ें उसे इतना ज़्यादा अर्थहीन मालूम होने लगती हैं कि उसके पास इसका समय नहीं रहता कि वह किसी के ख़िलाफ़ नफ़रत करे या किसी के ख़िलाफ़ हिंसा की योजना बनाए। जिस इंसान को ज़्यादा बड़ी चीज़ मिल जाए, वह कभी छोटी चीज़ की ओर नहीं दौड़ेगा।

शांतिप्रियता सुरक्षा का द्वार

क़ुरआन में बताया गया है कि एक पैग़ंबर से उसके समुदाय ने कहा कि अगर तेरे क़बीले का ख़्याल न होता तो हम तुझे संगसार (पत्थरों से मार डालना) कर देते (11:91)। यह समुदाय पैग़ंबर के मानने वालों का न था, बल्कि पैग़ंबर की क़ौम का था, जो ईमान न लाने के बावजूद क़बाईली परंपरा के आधार पर पैग़ंबर की रक्षा करते थे। इसी हक़ीक़त का हदीस में इन शब्दों में वर्णन है— "हर पैग़ंबर को ईश्वर ने उसके क़बीले की हिफ़ाज़त के साथ भेजा।" (मुसनद अहमद, 2:533)

पुराने ज़माने में जबकि आधुनिक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था मौजूद न थी, लोग क़बीलों के आश्रय में रहा करते थे। क़बाईली परंपराओं के अनुसार, हर क़बीला इसका ज़िम्मेदार होता था कि वह दूसरों के मुक़ाबले अपने लोगों

की सुरक्षा करे। पुराने ज़माने में यही क़बाईली परंपरा पैग़ंबरों का सुरक्षा कवच बना रहा। स्वयं पैग़ंबर-ए-इस्लाम हज़रत मुहम्मद को बनू हाशिम के सरदार अबू तालिब की ओर से यह सुरक्षा शक्ति प्राप्त थी। अबू तालिब हालाँकि अंतिम समय तक ईमान नहीं लाए, मगर वे क़बाईली परंपराओं के आधार पर पैग़ंबर-ए-इस्लाम के विरोधियों के मुक़ाबले में आपके लिए सुरक्षा कवच बने रहे। (सीरत इब्ने-हिशाम, प्रथम भाग, 1:281)

मौजूदा ज़माने में क़बाईली व्यवस्था समाप्त हो चुकी है, लेकिन आधुनिक राज्यों के सिद्धांतों के अंतर्गत धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था मुसलमानों और निमंत्रणकर्ताओं को यही सुरक्षा कवच अर्जित करा रहा है। वर्तमान समय की धर्मनिरपेक्ष राज्य सरकार अपने हर नागरिक को यह गारंटी देती है कि वह जिस धर्म को चाहे माने और जिस धर्म का चाहे प्रचार-प्रसार करे, उसे कोई रोक नहीं सकता, केवल एक शर्त के साथ कि वह किसी के ख़िलाफ़ हिंसा न करे।

पैग़ंबरों को पुराने ज़माने में जो सुरक्षा कवच मिला, वह क़बाईली सुरक्षा कवच था, न कि इस्लामी सुरक्षा शक्ति। इसके बावजूद पैग़ंबरों ने उसे स्वीकार किया। मौजूदा ज़माने में मुसलमानों को जो सुरक्षा कवच मिला, वह भी धर्मनिरेपक्ष सुरक्षा कवच है, न कि इस्लामी सुरक्षा कवच। पैग़ंबरों के तरीक़ों के अनुसार, मुसलमानों को चाहिए था कि वे सुरक्षा की शक्ति को स्वीकार करते हुए इसके अंतर्गत सच्चाई से शांतिपूर्ण निमंत्रण का कार्य करें, मगर सारी दुनिया के मुस्लिम मार्गदर्शकों ने धर्मनिरपेक्षतावाद को ग़ैर-इस्लामी क़रार देकर उसके ख़िलाफ़ शाब्दिक और व्यावहारिक लड़ाई छेड़ दी। इस प्रकार वे अनावश्यक रूप से धर्मनिरपेक्षतावाद के प्रतिद्वंद्वी बन गए। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के तहत मिली हुई सुरक्षा शक्ति इस्तेमाल होने से रह गई।

इंसानों के लिए कृपा

क़ुरआन के अध्याय नं० 21 में पैग़ंबर-ए-इस्लाम को संबोधित करते हुए ईश्वर ने कहा— “हमने तुम्हें तो बस दुनिया वालों के लिए रहमत बनाकर भेजा है।” (21:107)

पैग़ंबर-ए-इस्लाम का आना सारी दुनिया के इंसानों के लिए ईश्वर की कृपा का प्रकटन था। आपके द्वारा ईश्वर ने जीवन के वह नियम बताए, जिन्हें अपनाकर

इंसान 'दारुस्सलाम' (शांति के घर) में आबाद हो सकता है (10:25) यानी अमन व हिफ़ाज़त की कॉलोनी में। आपके द्वारा वह शिक्षाएँ उतारी गईं, जो मानव समाज को शांतिपूर्ण समाज बना सकती हैं। आपने इतिहास में पहली बार शांति की कल्पना पर आधारित पूर्ण विचारधारा पेश की। आपने जीवन का वह फॉर्मूला बताया, जो इंसान को इस योग्य बनाता है कि वह नफ़रत और हिंसा से बचते हुए अपने लिए एक स्वस्थ जीवन का निर्माण कर सके। आपके द्वारा संसार में वह क्रांति आई, जिसने इस बात को संभव बनाया कि टकराव और जंग से बचते हुए इंसान एक शांतिपूर्ण समाज बना सके।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम को हालाँकि मजबूरन कुछ परिस्थितियों में ऐसी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, जो इतनी छोटी थीं कि उनको जंग के बजाय झड़प कहना ज़्यादा सही है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम एक ऐसी महान क्रांति लाए जिसे उचित रूप से रक्तपातविहीन क्रांति (bloodless revolution) कहा जा सकता है।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने शांति को पूरी तरह जीवन के एक सिद्धांत की हैसियत दी। आपने बताया कि हिंसा विध्वंस का माध्यम है और शांति निर्माण का द्वार। आपने धैर्य को सबसे बड़ी इबादत बताया जिसका मतलब पूर्ण रूप से शांति की शैली पर क़ायम रहना है। आपने फ़साद को सबसे बड़ा जुर्म बताया जिसका मतलब प्रकृति की शांतिपूर्ण व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करना है। आपने शांति को इतना ज़्यादा महत्त्व दिया कि एक इंसान के क़त्ल को सभी इंसानों के क़त्ल के बराबर क़रार दिया।

दूसरों से मुलाक़ात में 'अस्सलाम अलैकुम' यानी 'तुम अमन और सुरक्षा से रहो' कहने को रिवाज देना, इसका मतलब यह था कि आपसी संबंधों का आधार शांति व सुरक्षा पर है। आपने परलोक की सफलता को इंसानी जद्दोजहद की मंज़िल बताया। इस प्रकार आपने संसार को लक्ष्य बनाने की जड़ काट दी जिसके कारण टकराव और हिंसा की समस्त स्थितियाँ पैदा होती हैं। आपने इंसान के लिए बेहतर जीवन का फॉर्मूला दिया— "लोगों को नफ़ा देने वाले बनो और अगर तुम नफ़ा नहीं दे सकते हो तो लोगों के लिए हानिरहित (harmless) बन जाओ।" आपने बताया कि किसी को अपना दुश्मन न समझो। तुम दुश्मन के साथ अच्छा व्यवहार करो, फिर तुम्हें मालूम होगा कि हर दुश्मन संभवतः (potentially) तुम्हारा दोस्त है। हर दुश्मन के अंदर एक

अच्छा दोस्त छुपा होता है।

जिहाद शांतिपूर्ण अमल का नाम है

मुल्ला अली क़ारी प्रसिद्ध इस्लामी विद्वान हैं। उनका पूरा नाम अली बिन मुहम्मद नूरूद्दीन अली मुल्ला अल-हिरावी अल-क़ारी है। मुल्ला अली क़ारी हेरात में पैदा हुए। उनका देहांत 1606 ई० में मक्का में हुआ। उन्होंने विभिन्न इस्लामी विषयों पर बड़ी संख्या में किताबें लिखीं। मुल्ला अली क़ारी की एक किताब का नाम 'मिरक़ातुल मसाबीह' है, जो 'मिश्कातुल मसाबीह' की व्याख्या में लिखी गई है। इस किताब के अध्याय 'किताबुल जिहाद' में मुल्ला अली क़ारी लिखते हैं कि जिहाद शब्द में शाब्दिक रूप से संघर्ष व परिश्रम का भावार्थ निहित है। इसके बाद वे लिखते हैं कि फिर जिहाद का शब्द इस्लाम में सच्चाई का इनकार करने वालों से जंग के लिए इस्तेमाल होने लगा।

हर शब्द का एक शाब्दिक अर्थ होता है और दूसरा प्रयोग किया हुआ भावार्थ। यही मामला जिहाद का भी है। जिहाद शब्द जहद से निकला है। शाब्दिक रूप से इसका मतलब प्रयत्न करना है। इसमें अतिशयोक्ति का भाव सम्मिलित है। प्रयोग में यह शब्द भिन्न प्रकार के संघर्ष के लिए लिखा या बोला जाता है। उन्हीं में से एक जंग भी है, फिर भी इसका प्रयोग केवल उस अपवादिक जंग के लिए ख़ास है, जो ईश्वर के रास्ते में की गई हो; धन-संपत्ति के लिए जो जंग की जाए, उसे जिहाद नहीं कहा जाएगा।

क़ुरआन में इस सिलसिले में दो अलग-अलग शब्द प्रयोग किए गए हैं— जिहाद और क़िताल। जब शांतिपूर्ण संघर्ष की बात हो तो वहाँ क़ुरआन में जिहाद का शब्द प्रयोग होता है, जैसे क़ुरआन के द्वारा शांतिपूर्ण निमंत्रणीय संघर्ष (25:52) और जब नियमानुसार जंग की बात हो तो वहाँ क़ुरआन में क़िताल का शब्द प्रयोग किया जाता है, जैसे कि क़ुरआन के अध्याय आले-इमरान की आयत नं० 121 में किया गया है, फिर भी बाद के ज़माने में जिहाद शब्द ज़्यादातर क़िताल के समानार्थ शब्द के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। जिहाद शब्द के उस प्रयोग को अगर दुरुस्त मान भी लिया जाए, तब भी वह जिहाद के शब्द का एक विस्तृत प्रयोग होगा, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।

अपने वास्तविक भावार्थ के ऐतबार से जिहाद एक शांतिपूर्ण अमल का नाम है, न कि हिंसात्मक अमल का नाम। जिहाद का अमल इंसान को वैचारिक एवं आध्यात्मिक रूप से बदलने के लिए होता है, न कि इंसान को क़त्ल करने के लिए।

हर हाल में अमन

पैग़ंबर-ए-इस्लाम अंतिम सीमा तक एक शांतिप्रिय इंसान थे। आपके विरोधियों ने बार-बार आपको लड़ाई में उलझाना चाहा, मगर हर बार आप उपेक्षा करके लड़ाई से बचते रहे। फिर भी कुछ मौक़ों पर एकतरफ़ा हमले के कारण आपको सामयिक रूप से रक्षात्मक जंग के लिए विवश होना पड़ा। उन्हीं कुछ रक्षात्मक जंगों में से एक 'बदर' की जंग है।

इतिहास बताता है कि ठीक उस समय जबकि दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं, पैग़ंबर-ए-इस्लाम के पास एक फ़रिश्ता* आया। उसने कहा कि ऐ मुहम्मद, ईश्वर ने आपको सलाम** भेजा है। यह सुनकर आपने फ़रमाया— "ईश्वर सलामती है और उससे सलामती है और उसी की तरफ़ सलामती है।" (अल-बिदाया वन-निहाया, 3:267)

इस घटना से अनुमान होता है कि ठीक लड़ाई के समय भी पैग़ंबर-ए-इस्लाम एक अमनपसंद इंसान बने हुए थे। उस कठिन समय में भी ऐसा न था कि आपका ज़हन नफ़रत और हिंसा से भर जाए, बल्कि उस समय भी आप शांति और सुरक्षा की परिभाषाओं में सोचते थे। उस समय भी आपका दिल इस कामना से तड़प रहा था कि ईश्वर की मदद से वे दुनिया में शांति व सुरक्षा का वातावरण स्थापित कर सकें। सच्चा इंसान वह है, जो जंग के समय भी अमन की बात सोचे, जो लड़ाई के हंगामों में भी सलामती की भावना अपने दिल में लिये हुए हो।

यह कोई साधारण बात नहीं। अपनी हक़ीक़त के ऐतबार से यह सकारात्मक सोच (positive thinking) की उच्चत्तर मिसाल है। जैसा कि ज्ञात है, जंग

---

* ईश्वर की आज्ञानुसार काम करने वाला देवदूत।

** इस्लामिक रीति-रिवाज के अनुसार अभिवादन करना।

समस्त नकारात्मक घटनाओं में सबसे बड़ी नकारात्मक घटना है। पैग़ंबर ठीक इसके किनारे पर खड़े हुए हैं, मगर उनकी ज़बान से ख़ून और हिंसा के बजाय अमन व सलामती के शब्द निकल रहे हैं। यह निःसंदेह उच्चतर मानवीय गुण हैं। उच्च मानव वह है, जो हिंसा के बीच भी अमन की बात सोचे; जो जंग के हालात में भी सुलह की योजना बनाए।

ईश्वर का नाम सलामती

क़ुरआन में ईश्वर के विभिन्न नाम बताए गए हैं। उनमें से एक नाम 'अस्सलाम' है यानी सलामती— मानो ईश्वर स्वयं सलामती का प्रकटीकरण (manifestation) है, ईश्वर स्वयं सलामती की आकृति है। ईश्वर को अमन व सलामती इतनी ज़्यादा पसंद है कि उसने अपना एक नाम अस्सलाम रखा।

इस आयत की व्याख्या में अल-ख़त्ताबी ने लिखा है— "वह हस्ती जिसके ज़ुल्म से लोग सुरक्षित रहें। लोगों को जिससे सलामती का अनुभव हो, न कि हिंसा का।" (तफ़्सीर अल-क़ुर्तुबी)

ईश्वर की हैसियत उच्चतम कसौटी की है। जब ईश्वर का बर्ताव इंसानों से अमन और सलामती पर आधारित हो तो इंसानों को भी दूसरे इंसानों के साथ इसी बर्ताव का मामला करना चाहिए। हर इंसान को दूसरे इंसान के साथ अमन व सलामती का बर्ताव करना चाहिए, न कि उसके साथ सख़्ती और हिंसा का।

ताक़तवर कौन

एक हदीस के अनुसार पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "ताक़तवर वह नहीं है, जो कुश्ती में लोगों को पछाड़ दे। ताक़तवर केवल वह है, जो ग़ुस्से के वक़्त अपने नफ़्स को क़ाबू में रखे।" (बुख़ारी, हदीस नं० 6114)

ग़ुस्से के समय ग़ुस्से को रोकना आत्म-संयम (self-control) का प्रतीक है और आत्म-संयम निःसंदेह सबसे बड़ी ताक़त है। ऐसे अवसर पर आत्म-संयम इंसान को ग़लत कार्यवाहियों से बचाता है और जिस इंसान के भीतर आत्म-संयम की ताक़त न हो, वह ग़ुस्से के समय बिखर उठेगा, यहाँ तक कि वह हिंसक कार्यवाही करने लगेगा। ग़ुस्से को क़ाबू में रखना शांतिप्रिय इंसान का तरीक़ा है

और ग़ुस्से के समय बेक़ाबू हो जाना हिंसाप्रिय इंसान का तरीक़ा।

एक इंसान की लड़ाई दूसरे इंसान से हो और वह उसे लड़ाई में पछाड़ दे तो यह केवल इस बात का प्रमाण है कि दूसरे इंसान के मुक़ाबले में पहला इंसान शारीरिक ऐतबार से ज़्यादा ताक़तवार था, मगर शारीरिक ताक़त एक सीमित ताक़त है। इसके मुक़ाबले में जिस व्यक्ति का यह हाल हो कि उसके अंदर ग़ुस्सा भड़के, मगर वह अपने ग़ुस्से पर क़ाबू कर ले और ग़ुस्सा दिलाने वाले के साथ संतुलित शैली में मामला करे, ऐसा इंसान ज़्यादा बड़ी ताक़त का मालिक है। उसका यह व्यवहार इस बात का सबूत है कि वह बौद्धिक ताक़त रखता है और बौद्धिक ताक़त निःसंदेह शरीर की ताक़त से बहुत ज़्यादा बड़ी है। ऐसा इंसान अपनी समझदार योजनाओं द्वारा हर जंग को जीत सकता है, बग़ैर इसके कि उसने एक इंसान का भी ख़ून बहाया हो।

सामाजिक अमन का फ़ॉर्मूला

सामाजिक अमन का फ़ॉर्मूला क्या है और किसी समाज में संतुलित हालात को किस तरह बरक़रार रखा जा सकता है, इसके बारे में पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि फ़ितना सोया हुआ है। उस शख़्स पर ईश्वर की लानत है, जो सोए हुए फ़ितने को जगाए। (कंज़ुल उम्माल, हदीस नं० 30,891)

यह सामाजिक अमन का एक प्राकृतिक फ़ॉर्मूला है। असल यह है कि हर इंसान के अंदर अंह (ego) की भावना मौजूद है और अहं की भावना एक ऐसी भावना है, जिसे छेड़ा जाए तो बहुत जल्द भड़क उठेगी और उपद्रव बरपा करेगी, मगर प्रकृति ने इस भावना को हर इंसान के सीने में सुला दिया है। वह हर इंसान के अंदर मौजूद है, मगर प्रकृति की व्यवस्था के तहत वह निद्रित अवस्था (passive state) में है। ऐसी हालत में किसी समाज को शांतिपूर्ण समाज बनाने का आसान तरीक़ा यह है कि लोगों के सीने में सोए हुए अहं को सोया रहने दिया जाए।

सामाजिक अमन को वही लोग अस्त-व्यस्त करते हैं, जिनके अहं को भड़का दिया गया हो। अगर अहं को भड़काने से बचा जाए तो समाज का अमन भी तबाह न होगा। इससे मालूम हुआ कि सामाजिक अमन स्थापित करना स्वयं आपके अपने वश में है, न कि दूसरों के वश में। आप अपने सकारात्मक बर्ताव

से दूसरों के अहं को न छेड़िए और फिर निश्चित रूप से आप उनकी दुष्टता से सुरक्षित रहेंगे।

ख़ामोशी में मुक्ति

हदीसों में विभिन्न शैली में ख़ामोशी की महत्ता बताई गई है। एक रिवायत के अनुसार, पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "जो शख़्स ख़ामोश रहा, उसने निजात पाई।" (तिरमिज़ी, हदीस नं० 2,501)

इसका मतलब यह नहीं है कि इंसान बोलना छोड़ दे, वह बिल्कुल ख़ामोश रहे। इसका मतलब वास्तव में यह है कि इंसान ख़ामोश रहकर सोचे। वह पहले ख़ामोश रहकर मामले को समझे, इसके बाद वह बोले। यह निःसंदेह एक बेहतरीन तरीक़ा है। इंसान को चाहिए कि नियमानुसार अपना प्रशिक्षण करके यह आदत डाले कि वह बोलने से ज़्यादा ख़ामोश रहे। वह बोले तो उस समय बोले, जबकि वह सोचने का काम कर चुका हो।

यह तरबियत इस प्रकार की जा सकती है कि रोज़ाना के नियम की बातचीत में वह इरादे से अपने आपको इसका आदी बनाए। अगर इंसान अपनी रोज़ाना की मामूली बातचीत में यह आदत डाल ले कि बोलने से ज़्यादा ख़ामोश रहे तो अपनी इस आदत के आधार पर वह उस समय भी ऐसा ही करेगा, जबकि रुटीन से अलग कोई बात पेश आ गई हो।

सामान्यतः लोग यह करते हैं कि उनके सामने कोई बात आती है तो वे फ़ौरन जो जवाब उनके ज़हन में आता है, उसे अपनी ज़ुबान से बोलना शुरू कर देते हैं। यह तरीक़ा सही नहीं। सही तरीक़ा यह है कि पहले सोचने का अमल किया जाए और फिर उसके बाद बोलना शुरू किया जाए। जो लोग ऐसा करें, वे इस अंजाम से बच जाएँगे कि वे अपने बोले हुए शब्दों पर पछताएँ। वे अपने कहे हुए बोल को लौटाना चाहें, हालाँकि किसी का कहा हुआ बोल दोबारा उसकी तरफ़ लौटने वाला नहीं।

सामान्यतः ऐसा होता है कि जब कोई स्वभाव के विरुद्ध बात सामने आती है तो इंसान भड़ककर बुरे तरीक़े से बात करने लगता है। इससे बचने का सरल तरीक़ा यह कि रोज़ाना की साधारण बातचीत में इंसान इसकी आदत डाले कि वह पहले सोचे, फिर बोले। जब ऐसा होगा कि रोज़ाना की बातचीत में वह

बोलने से पहले सोचने का आदी हो जाएगा तो वह अपनी इस आदत के आधार पर भी अपने स्वभाव के विरुद्ध बातचीत में भी इसी तरीक़े पर पाबंद रहेगा। आम बातचीत में अपने आपको वश में रखकर बात करना उसे इस योग्य बना देगा कि वह हंगामे वाले अवसरों पर भी अपने आप पर वश रखकर बोले, वह ज़हनी अनुशासन के साथ बातचीत करे।

दुनिया के अक्सर उपद्रव, शाब्दिक उपद्रव हैं। कुछ शब्द नफ़रत और हिंसा की भावना को भड़काते हैं और कुछ दूसरे शब्द शांति और मानवता के वातावरण को स्थापित करते हैं। अगर इंसान केवल यह करे कि वह बोलने से पहले सोचे और अपनी भावनाओं को वश में रखकर बोले तो ज़्यादातर उपद्रव पैदा होने से पहले ही समाप्त हो जाएँगे।

अपने आपको वश में रखकर बात करना एक उच्च मानवीय गुण है। यह गुण उन लोगों में होता है, जो अपने आपका पुनः निरीक्षण करते रहें, जो अपने कथन व कर्म का हिसाब लेते रहें।

इंसान को चाहिए कि जब वह कोई बात सुने तो तुरंत उसका जवाब न दे, वह तुरंत अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न करे। वह एक क्षण के लिए ठहरकर सोचे कि कहने वाले ने क्या बात कही है और मेरी तरफ़ से इसका बेहतर जवाब क्या हो सकता है। बात को सुनकर एक लम्हे के लिए ठहरना इस बात की यक़ीनी ज़मानत है कि वह सुनी हुई बात का सही उत्तर देगा, वह पत्थर का जवाब पत्थर से देने के बजाय पत्थर का जवाब फूल से देने में सफल हो जाएगा।

दुश्मन से टकराव नहीं

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि दुश्मन से मुठभेड़ की तमन्ना न करो, तुम ईश्वर से अमन माँगो (बुख़ारी, हदीस नं० 2,965)। इसका मतलब यह है कि कोई शख़्स अगर तुम्हारा दुश्मन बन जाए तो ऐसा न करो कि तुम उसके दुश्मन बनकर उससे लड़ना शुरू कर दो, बल्कि दूसरे पक्ष की दुश्मनी के बावजूद तुम उसके साथ उपेक्षा का तरीक़ा धारण करो। दुश्मनी के हालात के बावजूद तुम्हारा तरीक़ा लड़ाई से बचने का होना चाहिए, न कि अपने आपको लड़ाई में फँसा लेने का।

“ईश्वर से अमन माँगो” का मतलब यह है कि तुम टकराव के बजाय अमन

का रास्ता अपनाओ और अपनी अमनवादी कोशिशों के साथ ईश्वर को भी दुआओं के द्वारा उसमें शामिल करो। तुम्हारी दुआ यह नहीं होनी चाहिए कि ऐ ईश्वर, दुश्मन को हलाक कर दे, बल्कि यह होनी चाहिए कि ऐ ईश्वर, मुझे सामर्थ्य दे कि मैं लोगों की दुश्मनी के बावजूद हिंसा और टकराव का तरीक़ा न अपनाऊँ, बल्कि अमन के रास्ते पर अपने जीवन की यात्रा तय करता रहूँ।

इससे मालूम हुआ कि प्रकृति के नक़्शे के अनुसार इस दुनिया में अमन की हालत सामान्य नियम (general rule) की है और हिंसा की हैसियत केवल एक अपवाद (exception) की और ज़्यादा इससे यह मालूम होता है कि अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई शख़्स या गिरोह आपका दुश्मन हो तो उससे निपटने का केवल यही एक तरीक़ा नहीं है कि उससे मुठभेड़ की जाए, बल्कि ज़्यादा बेहतर और प्रभावी तरीक़ा यह है की अमन की युक्ति से दुश्मनी की समस्या का हल निकाला जाए। अमन की शक्ति हिंसा की शक्ति के मुक़ाबले में ज़्यादा सफल भी है और ज़्यादा लाभदायक भी।

अहिंसा का तरीक़ा

हदीस में वर्णन है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "ईश्वर नरमी पर वह चीज़ देता है, जो सख़्ती पर नहीं देता।" (सही मुस्लिम, हदीस नं० 2,593)

यह दरअसल प्रकृति के क़ानून का बयान है, जो ईश्वर ने वर्तमान संसार में स्थापित किया हुआ है। इसी क़ानून के आधार पर ऐसा होता है कि जब कोई व्यक्ति नम्रता और अहिंसा की सीमा में रहकर काम करे तो उसका काम ज़्यादा परिणामजनक बन जाता है और जो व्यक्ति सख़्ती और हिंसा का तरीक़ा अपनाए तो उसका काम आगे बढ़ने के बजाय और पीछे की तरफ़ चला जाता है।

असल यह है कि जब भी कोई व्यक्ति सख़्ती और हिंसा का तरीक़ा अपनाए तो उसके प्रयास अनावश्यक रूप से दो मोर्चों में बँट जाते हैं। एक मोर्चा अपने भीतरी निर्माण (self-development) का और दूसरा मोर्चा बाहरी प्रतिद्वंद्वी (external competition) से लड़ने का। इसके विपरीत जो व्यक्ति नम्रता और अहिंसा का तरीक़ा अपनाए, उसके लिए यह सभंव हो जाता है कि वह अपनी समस्त शक्तियों को केवल आंतरिक निर्माण के एक मोर्चे पर लगाए और उसके प्राकृतिक परिणामस्वरूप ज़्यादा बड़ी उन्नति प्राप्त कर ले।

इस हदीस में प्रकृति के इस क़ानून का ज़िक्र है, जिस पर हमारे संसार की व्यवस्था चल रही है। यहाँ जो कुछ किसी को मिलता है, वह इसी व्यवस्था के अंतर्गत मिलता है। इसके बग़ैर नहीं। प्रकृति की यह व्यवस्था समस्ततर शांति व अहिंसा के नियम पर क़ायम है। इसलिए यहाँ जब भी किसी को कुछ मिलेगा, शांति और अहिंसा के नियम पर मिलेगा। उससे अवहेलना करके किसी को कुछ मिलने वाला नहीं।

मतभेद की सीमा

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने एक तरफ़ यह फ़रमाया— "ज़ालिम हुक्मरान के सामने सत्य व न्याय की बात कहना श्रेष्ठ जिहाद है।" (अबू दाऊद, हदीस नं० 4,344)

दूसरी तरफ़ हदीस में वर्णन है— "जो शख़्स अपने हाकिम में ऐसी चीज़ देखे, जो उसको पसंद न हो तो वह उस पर सब्र करे।" इसी तरह आपने फ़रमाया कि तुम अपने हाकिम की बात सुनो और उसकी आज्ञा का पालन करो, चाहे वह तुम्हारी पीठ पर कोड़ा मारे और तुम्हारा माल छीन ले। (सही मुस्लिम, किताबुल ईमान)

इन हदीसों में बज़ाहिर दो प्रकार के आदेश हैं। एक तरफ़ यह आदेश कि तुम अपने हाकिम में कोई ग़लत बात देखो तो खुले तौर पर उसकी घोषणा करो। दूसरी तरफ़ हदीस यह बताती है कि लीडर के अंदर तुम्हें कोई ग़लत बात दिखाई दे तो उस पर सब्र करो। अगर वह तुम्हारे ऊपर ज़ुल्म करे, तब भी तुम उसे सहन करो।

यह एक अति महत्त्वपूर्ण निर्देश है जिससे दो चीज़ों का भेद मालूम होता है और वह है घोषणा और अग्रसरता का भेद। यह एक वांछनीय बात है कि इंसान हुक्मरान के अंदर कोई ग़लत बात देखे तो वह नसीहत और शुभेच्छा के अंदाज़ में उसकी घोषणा करे, लेकिन जहाँ तक व्यावहारिक अग्रसरता का संबंध है तो इंसान को उससे पूर्णतः बचना चाहिए। इंसान को चाहिए कि वह नसीहत और टकराव की सियासत में अंतर करे। नसीहत के जायज़ हक़ को इस्तेमाल करते हुए वह सियासी टकराव से पूर्णतः बचे।

भेद करने का यह नियम बेहद ज़रूरी है। समाज में जब भी हिंसा का

वातावरण बनता है, वह उस समय बनता है, जबकि लोग हुक्मरान के ख़िलाफ़ व्यावहारिक टकराव की मुहिम शुरू कर दें। वे सियासत के सुधार के नाम पर हुक्मरान को सत्ता से हटाने की योजना बनाएँ, लेकिन अगर इस प्रकार की विवादित सियासत से बचते हुए केवल नसीहत को पर्याप्त समझा जाए तो हमेशा ऐसा होगा कि समाज में अमन क़ायम रहेगा और समाज कभी भी हिंसा का जंगल नहीं बनेगा।

शांतिपूर्ण कार्य-शैली ज़्यादा बेहतर

एक हदीस में बताया गया है कि काम-काज (affairs) में पैग़ंबर-ए-इस्लाम की पॉलिसी क्या थी। एक हदीस के शब्द यह हैं— "हज़रत मुहम्मद को जब भी किसी काम को करने में दो में से एक तरीक़े का चुनाव करना होता तो आप हमेशा दोनों में से आसान का चुनाव करते थे।" (बुख़ारी, हदीस नं० 6,786)

आसान चुनाव को धारण करने के इस नियम को अगर हिंसक कार्य-शैली और शांतिपूर्ण कार्य-शैली के ऐतबार से देखा जाए तो यह कहना सही होगा कि पैग़ंबर का तरीक़ा यह था कि जब कोई मामला पेश आए तो उससे निपटने के लिए हिंसात्मक कार्य-शैली को धारण न किया जाए, बल्कि शांतिपूर्ण कार्य-शैली को धारण किया जाए, क्योंकि हिंसात्मक कार्य-शैली निश्चित रूप से कठिन है और शांतिपूर्ण कार्य-शैली निश्चित रूप से सरल।

फिर भी यह साधारण रूप से केवल सरल और कठिन का मामला नहीं, बल्कि इसका मतलब यह है कि मामलात में शांतिपूर्ण तरीक़ा हमेशा परिणामजनक होता है और हिंसक तरीक़ा निश्चित रूप से परिणामविहीन। वह समस्या का समाधान नहीं करता, निःसंदेह उसमें कुछ और वृद्धि करके उसे ज़्यादा जटिल बना देता है। हदीस में कठिन तरीक़े से अभिप्राय वह तरीक़ा है जिसके द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति कठिन हो। इसके मुक़ाबले में सरल तरीक़े से तात्पर्य वह तरीक़ा है जिसके द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति सरल और निश्चित हो।

लचक का तरीक़ा, न कि अकड़ का तरीक़ा

हदीस की विभिन्न किताबों में एक हदीस का वर्णन इस प्रकार है, जैसे— बुख़ारी, सही मुस्लिम, दारमी, मुसनद अहमद। इस हदीस में मोमिन, दूसरे शब्दों में, ख़ुदापरस्त इंसान की मिसाल 'ख़ामह' से दी गई है। ख़ामह नरम पौधे को कहते हैं। हदीस में बताया गया है— "मोमिन का हाल नरम पौधे की तरह है। जब भी हवा का कोई झोंका आता है तो वह उसके अनुसार झुक जाता है और जब झोंका चला जाए तो वह दोबारा उठ जाता है। इस तरह वह अपने आपको बला और मुसीबत से बचा लेता है।"

इस हदीस के अनुसार किसी तूफ़ान का सामना करने के दो तरीक़े हैं। एक यह कि उसके मुक़ाबले में अकड़ दिखाई जाए और दूसरा तरीक़ा यह कि उसके मुक़ाबले में लचक का तरीक़ा अपनाया जाए। इसे दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि मुक़ाबले का एक तरीक़ा हिंसक तरीक़ा है और दूसरा तरीक़ा शांतिपूर्ण तरीक़ा। खुदा का प्रिय तरीक़ा यह है कि पहले तरीक़े को छोड़ दिया जाए और दूसरे तरीक़े को अपनाया जाए।

तूफ़ान के मुक़ाबले में जो लोग अकड़ का तरीक़ा अपनाएँ, वे अपने इस अमल से साबित करते हैं कि वे अहंकार में ग्रस्त हैं। इसके मुक़ाबले में शांति का तरीक़ा विनय पर आधारित है। ईश्वर की इस दुनिया में अहंकार की शैली धारण करने वालों के लिए तबाही है और विनय की शैली धारण करने वालों के लिए सफलता। यही बात हदीस में इन शब्दों में कही गई है— "जिसने विनय की शैली धारण की, ख़ुदा उसे बुलंदी अता करेगा।"

शांतिपूर्ण नागरिक

हदीस में वर्णन है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने मोमिन की तारीफ़ करते हुए फ़रमाया— "मोमिन वह है जिससे लोगों की जान और माल सुरक्षित है।" (मुसनद अहमद, हदीस नं० 8,931)

किसी समाज में रहने के दो तरीक़े हैं। एक यह कि इंसान लोगों के बीच अमन के साथ रहे और दूसरा तरीक़ा यह है कि वह दूसरों से लड़ाई-झगड़ा करता

रहे। इस हदीस के अनुसार ईमानी तरीक़ा यह है कि इंसान लोगों के बीच शांतिपूर्ण नागरिक बनकर रहे। दूसरों की जान-माल व सम्मान के लिए वह समस्या न बने। वह किसी हाल में दूसरों के ख़िलाफ़ हिंसा का तरीक़ा न अपनाए।

जीवन का वह तरीक़ा क्या है जिसमें समाज के लोग एक-दूसरे के अत्याचार से सुरक्षित हों। वह तरीक़ा यह है कि शिकायत के बावजूद इंसान अपने संतुलन को बरक़रार रखे। दूसरों से शिकायत को वह अपने सीने में दफ़न कर दे। वह अपने सीने की आग को दूसरों के ऊपर उड़ेलने से बचे। इस प्रकार का समाज वह समाज है, जहाँ लोग एक-दूसरे से सुरक्षित रहकर जीवन गुज़ारें। शांतिपूर्ण समाज आदर्श इंसानी समाज है। इसके विपरीत जिस समाज में हिंसा हो, वह हैवानी समाज है, न कि आदर्श समाज।

प्रतीक्षा भी समाधान है

पैग़ंबर-ए-इस्लाम हज़रत मुहम्मद ने फ़रमाया कि अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करना एक श्रेष्ठ इबादत है। (तिरमिज़ी, हदीस नं० 3,571)

हर व्यक्ति और समूह पर हमेशा ऐसे हालात आते हैं जिनमें वह अपने आपको तंगी में महसूस करने लगता है। ऐसे अवसर पर ज़्यादातर लोग यह करते हैं कि वे जाने या अनजाने में कठिनाई को एक स्थायी हालत समझ लेते हैं और उसे तुरंत अपने आपसे दूर करने के लिए हालात से लड़ना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार की लड़ाई हमेशा बेफ़ायदा साबित होती है। इसका नतीजा केवल यह होता है कि तंगी पर कुछ और कठिनाइयों की वृद्धि कर ली जाए।

तंगी कभी हमेशा के लिए नहीं आती। वह केवल सामयिक रूप से आती है। ऐसी हालत में तंगी की समस्या का सरल उपाय केवल यह है कि प्रतीक्षा की पॉलिसी अपनाई जाए यानी अनावश्यक रूप से हालात से लड़ाई न छेड़ी जाए, बल्कि सामान्य रूप से 'प्रतीक्षा करो और देखो' (wait and watch) की पॉलिसी अपनाई जाए। इस पॉलिसी का नतीजा यह होगा कि इंसान की मानसिक शांति बरबाद न होगी और जो कुछ होने वाला है, वह अपने आप समय पर हो जाएगा।

जब भी कोई समस्या पेश आती है तो इंसान यह चाहने लगता है कि तुरंत उसका समाधान निकल आए, यही असल ग़लती है। इंसान अगर पेश आई हुई समस्या को प्रतीक्षा के ख़ाने में डाल दे तो कोई समस्या नहीं।

ईश्वरीय चेतावनी, न कि इंसानी ज़ुल्म

पैग़ंबर-ए-इस्लाम हज़रत मुहम्मद ने अपनी उम्मत को बाद के जिन हालात से अग्रिम रूप से आगाह किया है, उनमें से एक यह है कि बाद के ज़माने में मुस्लिम समुदाय दूसरे समुदायों की पकड़ में आ जाएगा। अतः फ़रमाया कि क़रीब है कि क़ौमें तुम्हारे ख़िलाफ़ एक-दूसरे को पुकारें, जिस प्रकार खाना खिलाने वाले एक-दूसरे को दस्तरख़्वान पर पुकारते हैं। (अबू दाऊद, हदीस नं० 4,297)

यहाँ मैं उस घटना की चर्चा करना चाहूँगा, जो अठारहवीं शताब्दी ई० के आख़िर में घटित हुई। प्रारंभ में यूरोप के कोलोनियल साम्राज्य (colonial powers) के द्वारा यह घटना घटित हुई। इसके बाद दूसरे समुदाय इसमें सम्मिलित होते चले गए। इसका सिलसिला अभी तक जारी है। ऐसा क्यों हुआ? क़ुरआन के अध्ययन से मालूम होता है कि यह सीधे तौर पर ईश्वर का तरीक़ा है। ईश्वर का तरीक़ा यह है कि क़ौमों को जगाने के लिए उन पर चेतावनियाँ उतारी जाती हैं। यह गोया शॉक ट्रीटमेंट (shock treatment) होता है, ताकि वे चौंकें और अपना सुधार करें। अतः कुरआन में ईश्वर ने फ़रमाया— "जब हमारी तरफ़ से उन पर सख़्ती आई तो वे क्यों न गिड़गिड़ाए, बल्कि उनके दिल सख़्त हो गए और शैतान उनके अमल को उनकी नज़र में ख़ुशनुमा करके दिखाता रहा।" (6:43)

इस आयत में 'तज़ईन' (beautification) का शब्द इस्तेमाल किया गया है। इसका मतलब है एक बुरे काम का सुंदर शब्दों से सौंदर्यकरण (beautification) करना, ताकि उसकी बुराई छुप जाए। मौजूदा ज़माने के मुसलमानों के साथ ठीक यही घटना पेश आई। मौजूदा ज़माने के मुस्लिम मार्गदर्शकों ने जाने-अनजाने में ठीक वही काम किया, जिसे कथित आयत में सौंदर्यकरण कहा गया है।

मौजूदा ज़माने में मुसलमानों के साथ दूसरी क़ौमों की ओर से जो समस्याएँ पेश आईं, वह ईश्वरीय चेतावनी (warning) थी, मगर मुस्लिम लीडरशिप ने इन समस्याओं को अत्याचार और षड्यंत्र की परिभाषाओं में बयान करना शुरू कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो घटना इसलिए हुई कि मुसलमान अपनी ग़लतियों का अहसास करें और अपने सुधार में सक्रिय हो जाएँ। उनकी सारी सोच दूसरी क़ौमों की तरफ़ आकृष्ट हो गई। जिस घटना से आत्मनिरीक्षण का ज़हन पैदा होना चाहिए था, इससे दूसरों के निरीक्षण का ज़हन जाग उठा जो बढ़ते-बढ़ते हिंसा तक पहुँच गया।

ख़ामोशी की ताक़त

हज़रत उमर फ़ारूक़ इस्लामी इतिहास के दूसरे ख़लीफा* हैं। उनका एक कथन इन शब्दों में अनुकरण किया गया है कि तुम लोग झूठ को हलाक करो, उसके बारे में चुप रहकर।

प्रकृति के क़ानून के अनुसार इस दुनिया में सच को जीवन मिलता है और झूठ के भाग्य में मौत है। ऐसी हालत में झूठ की हलाकत के लिए केवल इतना ही काफ़ी है कि उसके बारे में ख़ामोशी अपना ली जाए। झूठ के ख़िलाफ़ बोलना या उसके ख़िलाफ़ हंगामा करना उसे जीवन देता है और झूठ की अनदेखी करके उसके बारे में चुप रहना उसकी मौत का कारण बन जाता है।

झूठ के बारे में चुप रहने का मतलब यह है कि उसे नज़रअंदाज़ किया जाए। उसके ख़िलाफ़ किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न की जाए। उसके मुक़ाबले में विरोध-प्रदर्शन और सम्मुख आने का तरीक़ा न अपनाया जाए। हालाँकि ऐसा करना केवल उन लोगों के लिए संभव है, जो प्रकृति की शक्ति को जानें और उस पर भरोसा कर सकें। जो लोग प्रकृति की शक्ति को न जानें, वही लोग असत्य के ख़िलाफ़ हंगामा खड़ा करके उसे जीवन देने का कारण बन जाते हैं।

हिंसा निराशा का परिणाम

हिंसा खोने के अहसास का परिणाम है और शांति पाने के अहसास का परिणाम। जो लोग इस अहसास से ग्रस्त हों कि वे वंचित हैं, दूसरों ने उनकी चीज़ उनसे छीन ली है तो ऐसे लोग हमेशा नकारात्मक मानसिकता में ग्रस्त रहते हैं। उनकी यही अनूभूति अक्सर हिंसा के रूप में प्रकट होती है, लेकिन जो लोग इस अहसास में जीते हों कि उन्होंने अपने जीवन में पाने का अनुभव किया है, ऐसे लोग मानसिक शांति से आलिंगनबद्ध होते हैं। वे शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

जो व्यक्ति या गिरोह दूसरों के ख़िलाफ़ नफ़रत करे, जो दूसरों के ख़िलाफ़ हिंसा पर उतर आए, वह अपने अमल से यह साबित करता है कि वह अपने आपको वंचित समझ रहा है। इसके विपरीत जो व्यक्ति या गिरोह अमनपसंदी

* नेतृत्व करने वाला; इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद का उत्तराधिकारी।

का जीवन गुज़ारे, वह अपने अमल से इस बात का सबूत दे रहा है कि उसने अपनी ज़िंदगी में वह चीज़ पा ली है, जिसे उसे पाना चाहिए।

अब सवाल यह है कि खोने का अहसास किसी को क्यों पैदा होता है और वह कौन लोग हैं, जो हमेशा पाने के अहसास में जीते हैं।

इस दुनिया में सबसे बड़ा पाना यह है कि इंसान ने ईश्वर को पा लिया हो और सबसे बड़ा खोना यह है कि इंसान ईश्वर को पाने से वंचित रहे। ईश्वर को पाने के बाद कोई और चीज़ पाने के लिए बाक़ी नहीं रहती और जो लोग ईश्वर को पाने से वंचित हों, वे मानो खोने की इस अंतिम हालत पर पहुँच गए हैं, जहाँ खोना-ही-खोना है— आरंभ में भी और अंत में भी, कोई भी चीज़ उनके इस अहसास को ख़त्म करने वाली नहीं।

सकारात्मक स्टेटस कोइज़्म

जब भी कोई इंसान अमल करना चाहे तो उसे फ़ौरन महसूस होता है कि उसके रास्ते में कुछ रुकावटें बाधक हैं। ऐसा एक व्यक्ति के लिए भी होता है और पूरे समुदाय के लिए भी। अब अमल का एक तरीक़ा यह है कि पहले रुकावटों से लड़कर उनको रास्ते से हटा दिया जाए और उसके बाद अपना इच्छुक अमल शुरू किया जाए। इस तरीक़े को सामान्य रूप से कट्टरपंथ (radicalism) कहा जाता है।

कट्टरपंथ का तरीक़ा जज़्बाती लोगों को या अतिवादी लोगों को बज़ाहिर पसंद आता है, मगर वह किसी सकारात्मक उद्देश्य के लिए फ़ायदेमंद नहीं। कट्टरपंथ का तरीक़ा विनाश का तरीक़ा है, वह निर्माण का तरीक़ा नहीं। कट्टरपंथ के तरीक़े में केवल वर्तमान व्यवस्था ही नहीं टूटती, बल्कि इस अमल के दौरान वह सामाजिक परंपराएँ टूट जाती हैं, जो सदियों में बनी थीं। ख़ून-ख़राबा और तोड़-फोड़ के कारण बेशुमार लोग भाँति-भाँति की कठिनाइयों का शिकार होते हैं। अनुभव बताता है कि कट्टरपंथ का तरीक़ा सैद्धांतिक रूप से प्रत्यक्ष में सुंदर मालूम होता है, मगर व्यावहारिक परिणाम के आधार से उसमें कोई ख़ूबी नहीं।

इसके मुक़ाबले में दूसरा तरीक़ा यह है कि यथापूर्व स्थिति (status quo) से टकराव न करते हुए संभव दायरे में अपने अमल की योजनाबंदी की जाए। यथापूर्व स्थिति को सामाजिक रूप से स्वीकार करते हुए उन अवसरों को

इस्तेमाल किया जाए, जो अब भी मौजूद हैं। इस तरीक़े को एक शब्द में 'पॉज़ीटिव स्टेटस कोइज़्म' (positive status quoism) कहा जा सकता है।

कट्टरपंथ का तरीक़ा हमेशा हिंसा पैदा करता है। इसके विपरीत पॉज़ीटिव स्टेटस कोइज़्म समाज के अमन को बाक़ी रखते हुए अपने कार्य को अंजाम देता है। कट्टरपंथ का तरीक़ा हमेशा समस्या में वृद्धि करता है। इसके विपरीत पॉज़ीटिव स्टेटस कोइज़्म का तरीक़ा समाज में कोई समस्या पैदा करे बग़ैर अपने अमल को अंजाम देता है। एक अगर बिगाड़ का रास्ता है तो दूसरा बनाव का रास्ता।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने प्राचीन अरब में जो सुधार का तरीक़ा अपनाया, उसे एक शब्द में पॉज़ीटिव स्टेटस कोइज़्म कहा जा सकता है। जैसे उस समय में काबा के अंदर 360 मूर्तियाँ रखी हुई थीं। यह एक बड़ी समस्या थी, मगर क़ुरआन के प्रारंभिक दौर में इस प्रकार का आदेश नहीं उतरा कि काबा को मूर्तियों से पाक करो, बल्कि इसके बजाय इस दौर में जो आयत उतरी, वह यह थी कि अपने कपड़े पाक करो (74:4)। इसका मतलब यह था कि अपने आचरण को और दूसरों के आचरण को सुधारो।

हिंसा का कोई औचित्य नहीं

हिंसा मानव प्रकृति के विरुद्ध है, हिंसा मानवता की हत्या है, हिंसा समस्त अपराधों में सबसे बड़ा अपराध है। इसके बावजूद लोग हिंसा क्यों करते हैं। इसका कारण बिल्कुल साधारण है। ऐसे लोग मनगढ़ंत रूप से अपने लिए हिंसा का औचित्य (justification) ढूँढ लेते हैं। वे बतौर ख़ुद यह विचार धारण कर लेते हैं कि अमुक कारणों से उनके लिए हिंसा करना उचित है।

मगर वास्तविकता यह है कि हिंसा का हर औचित्य झूठा औचित्य है। कोई व्यक्ति या गिरोह जब भी हिंसा करता है, ठीक उसी समय उसके लिए हिंसारहित या शांतिपूर्ण कार्य-शैली मौजूद होती है। ऐसी हालत में हिंसा क्यों? जब हिंसा के बग़ैर अमल करने का अवसर मौजूद हो तो हिंसा क्यों की जाए। हक़ीक़त यह है कि हिंसा पूर्णत: छोड़ने योग्य है और शांति पूर्णत: अपनाने योग्य। इंसान को चाहिए कि वह किसी भी कारणवश हिंसा न करे, वह हर स्थिति में शांतिपूर्ण कार्य-शैली के अमल पर क़ायम रहे।

दुश्मनी की समस्या का समाधान

बहुत से लोग यह विचार रखते हैं कि अमुक समुदाय हमारा दुश्मन है। फिर इस परिकल्पना के तहत वे उस क़ौम के ख़िलाफ़ हिंसक लड़ाई छेड़ देते हैं, ताकि उसकी दुश्मनी के अंजाम से अपने आपको बचा सकें, मगर यह परिकल्पना भी ग़लत है और इस परिकल्पना के ऐतबार से बनाई जाने वाली कार्य-प्रणाली भी ग़लत।

दुश्मनी हाथ की उंगली की तरह इंसानी अस्तित्व का कोई स्थायी हिस्सा नहीं, वह मानव अस्तित्व का एक ऊपरी भाग है। सकारात्मक युक्ति के द्वारा हर दुश्मनी को समाप्त किया जा सकता है। दुश्मनी की मिसाल ऐसी है, जैसे ग्लास के ऊपर लगी हुई मिट्टी। ऐसी मिट्टी को बड़ी सरलता के साथ पानी से धोकर साफ़ किया जा सकता है। जैसे कि ग्लास में मिट्टी का लगना समस्या नहीं, बल्कि असल समस्या यह है कि आपके पास मिट्टी को धोने के लिए साफ़ पानी न हो।

ताली हमेशा दो हाथ से बजती है। एक हाथ से कभी ताली नहीं बजती। इसी प्रकार दुश्मनी भी द्विपक्षीय व्यवहार है। अगर कोई व्यक्ति आपका दुश्मन बने तो आप स्वयं उसके दुश्मन न बनें। इसके बाद दुश्मनी अपने आप समाप्त हो जाएगी। दुश्मन के साथ दुश्मनी न करना ही दुश्मनी की समस्या का सबसे कारगर अमल है।

हथियार जमा करना बेफ़ायदा

एक साहब से मुलाक़ात हुई। वह एक सफल व्यापारी हैं। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा कि मेरा घर शहर के एक ऐसे किनारे पर है, जहाँ से दूसरे समुदाय की आबादी शुरू हो जाती है। मैंने सोचा कि मुझे अपनी और अपने बच्चों की सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए। मैंने पैसा ख़र्च करके अपने घर के हर सदस्य के लिए लाइसेंस बनवाया और फिर घर के हर व्यक्ति के नाम गन और रिवॉल्वर प्राप्त कर लिये। मैं अपने आपको और अपने परिवार को सुरक्षित समझता हूँ। अब मुझे दंगे-फ़साद का कोई डर नहीं।

मैंने कहा कि आप व्यापार के नियम जानते हैं, मगर आप सामाजिक जीवन के नियम को नहीं जानते। सामाजिक सुरक्षा का माध्यम गन और रिवॉल्वर नहीं है। सामाजिक सुरक्षा का नियम यह है कि आप दूसरों के लिए बेहतरीन पड़ोसी

बनकर रहें। आप दूसरों को अपने दुराचार (wickedness) से बचाएँ। इसके बाद अनिवार्य रूप से ऐसा होगा कि आप दूसरों के दुराचार से सुरक्षित रहेंगे। अगर आप दूसरों से नफ़रत करेंगे तो दूसरों की ओर से भी आपको नफ़रत मिलेगी और अगर आपके दिल में दूसरों के लिए भलाई है तो दूसरों की ओर से भी आपको मुहब्बत और भलाई का उपहार मिलेगा।

मैंने कहा कि अगर आपके घर के सामने दूसरे समुदाय की भीड़ इकट्ठा हो जाए और आप अपनी बालकनी में खड़े होकर उसके ऊपर गोली चला दें तो क्या आप समझते हैं कि बस इतने ही पर मामला समाप्त हो जाएगा? बिल्कुल नहीं। आपको जानना चाहिए कि इंसानों के ऊपर गोली चलाना आपके लिए पुलिस हस्तक्षेप अपराध (cognizable offence) की हैसियत रखता है। अतः जब भी ऐसा होगा तो पुलिस तुरंत वहाँ आ जाएगी और आप हरगिज़ पुलिस से लड़ नहीं सकते।

आपको जानना चाहिए कि आपके पास गन होना और पुलिस के पास गन होना दोनों में एक बुनियादी अंतर है। आप गन रखने के बावजूद किसी को गोली मारने का क़ानूनी हक नहीं रखते, लेकिन पुलिस के पास गन है तो वह गोली मारने का क़ानूनी हक़ भी रखती है। दूसरे समुदाय के मुक़ाबले में बज़ाहिर मुक़ाबला दो समान पक्ष के बीच नज़र आता है, मगर जब मामला आपके और पुलिस के बीच का हो जाए तो यह मुक़ाबला पूर्ण रूप से असमान हो जाता है। ऐसी हालत में आपका गोली चलाना अपने नतीजे के ऐतबार से 'आ बैल मुझे मार' की हैसियत रखता है। ज़ाहिर है कि इस प्रकार की अग्रसरता सुरक्षा नहीं है, बल्कि वह अपने परिणाम की दृष्टि से विनाश है।

अंतरात्मा बेहतरीन जज है

एक शहर में एक मुसलमान ने अपने लिए घर बनाया। घर से मिली हुई एक ज़मीन को उन्होंने घेरा बनाकर अपने घर में सम्मिलित कर लिया। उनके पड़ोस में एक हिंदू ठेकेदार था। इस हिंदू ठेकेदार का दावा था कि यह ज़मीन उसकी है। अतः उसने शहर के कट्टर हिंदुओं से मिलकर उन्हें भड़काया, यहाँ तक कि एक दिन हिंदुओं की भीड़ घर के सामने सड़क पर इकट्ठी हो गई और नारे लगाने लगी।

कथित मुसलमान के पास उस समय बंदूक़ें थीं, मगर उन्होंने बंदूक़ नहीं उठाई। वे अकेले और ख़ाली हाथ घर से निकलकर बाहर आए। उन्होंने नारे लगाने वाली भीड़ से कुछ नहीं कहा। उन्होंने केवल यह पूछा कि आपका लीडर कौन है। एक साहब, जिनका नाम मिस्टर सूद था, आगे बढ़े और कहा कि वह मैं हूँ। बताइए आपको क्या कहना है। मुसलमान ने भीड़ से कहा कि आप लोग यहाँ ठहरें और वे मिस्टर सूद को लेकर घर के अंदर आ गए। उनको कमरे में लाकर उन्हें कुर्सी पर बिठाया।

इसके बाद मुसलमान ने कहा कि मिस्टर सूद आप किस सिलसिले में यहाँ आए हैं। मिस्टर सूद ने ग़ुस्से में कहा कि आपने एक हिंदू भाई की ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है। हम इसीलिए यहाँ आए हैं। मुसलमान ने विनम्रता के साथ कहा कि आप जानते हैं ज़मीन काग़ज़ पर होती है। ज़मीन का फ़ैसला काग़ज़ देखकर किया जाता है। आप ऐसा कीजिए कि मेरे पास जो काग़ज़ात हैं, उनको ले लीजिए और ठेकेदार साहब के पास जो क़ागज़ात हैं, उनको भी ले लीजिए। आप काग़ज़ात देखने के बाद जो फ़ैसला कर दें, वह मुझे बिना शर्त स्वीकार होगा।

यह सुनकर मिस्टर सूद बिल्कुल नॉर्मल हो गए। वे ग़ुस्से की हालत में अंदर गए थे और हँसते हुए बाहर निकले। उन्होंने सड़क पर ख़डी हुई भीड़ से कहा कि तुम लोग अपने घरों को वापस जाओ। मियाँ जी ने ख़ुद ही हमें जज बना दिया है। अब हम दोनों के काग़ज़ात देखकर फ़ैसला करेंगे। इसके बाद मिस्टर सूद ने घर जाकर दोनों के काग़ज़ात को देखा और मामले को अच्छी तरह समझा। कुछ दिन बाद उन्होंने शत-प्रतिशत मुसलमान के हक़ में अपना फ़ैसला दे दिया।

कथित मुसलमान अगर अपनी बंदूक़ लेकर भीड़ के ऊपर गोली चलाते तो वे भीड़ के अहं को जगा देते और फिर निश्चित रूप से सारा मामला मुसलमान के ख़िलाफ़ हो जाता, मगर जब उन्होंने गन के बजाय बुद्धिमता का इस्तेमाल किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि लोगों की अंतरात्मा जाग उठी और जब अंतरात्मा जाग उठे तो उसका फ़ैसला हमेशा न्याय के पक्ष में होता है। ज़मीर कभी अत्याचार और अन्याय का फ़ैसला नहीं करता।

जीत भी हार है

राजा पायरस (King Pyrrhus) तीसरी सदी ईसा पूर्व का एक यूनानी राजा था। उसकी लड़ाई रूमियों से हुई। इस युद्ध में अंततः राजा पायरस को रूमियों पर विजय प्राप्त हुई, मगर लड़ाई के दौरान राजा पायरस की सेना और उसके देश की आर्थिक स्थिति बिल्कुल तबाह हो चुकी थी। राजा पायरस के लिए यह प्रत्यक्ष में विजय थी, मगर वह अपने परिणाम की दृष्टि से पराजय के समान थी। इस ऐतिहासिक घटना के आधार पर एक परिभाषा प्रसिद्ध हुई जिसे पाइरिक विक्ट्री (Pyrrhic Victory) कहा जाता है यानी बज़ाहिर विजय, मगर वास्तविकता में पराजय।

युद्ध के इतिहास को देखा जाए तो यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि अक्सर विजय पाइरिक विजय ही होती है। हर विजेता के हिस्से में दो हानि का पेश आना अनिवार्य है। एक जान व माल की तबाही और दूसरा पराजित के दिल में विजेता के ख़िलाफ़ नफ़रत। अगर अंतर है तो केवल यह कि कोई विजेता इस नुक़सान को तुरंत भुगतता है और किसी विजेता के हिस्से में यह नुक़सान कुछ देर के बाद आता है।

हानि का यह मामला केवल हिंसक कार्य-शैली के साथ संबंध रखता है और शांतिपूर्ण कार्य-शैली का मामला इससे बिल्कुल भिन्न है। शांतिपूर्ण कार्य-शैली में केवल जीत है, शांतिपूर्ण शैली में हार का कोई सवाल नहीं। यहाँ तक कि अगर शांतिपूर्ण कार्य-शैली का नतीजा प्रत्यक्ष हार की स्थिति में निकले, तब भी वह जीत है। इसलिए कि शांतिपूर्ण कार्य-शैली के रूप में इंसान जंग को खोता है, मगर वह अवसरों को नहीं खोता। अवसर और संभावनाएँ अब भी उसके पास मौजूद होती हैं। वह इन अवसरों को इस्तेमाल करके दोबारा एक नई जद्दोजहद शुरू कर सकता है और नए सिरे से अपनी सफलता की मंज़िल तक पहुँच सकता है।

शिकायत को तुरंत समाप्त करना

शिकायती स्वभाव एक क़ातिलाना स्वभाव है। शिकायती स्वभाव इंसान

के अंदर नकारात्मक सोच पैदा करता है। वह इंसान को सकारात्मक सोच से वंचित कर देता है और इस प्रकार का स्वभाव निःसंदेह समस्त बुराइयों की जड़ है। अक्सर हिंसा के पीछे शिकायती स्वभाव ही काम करता नज़र आता है।

वर्तमान संसार की निर्माण योजना (creation plan of universe) कुछ इस प्रकार बनी है कि यहाँ अनिवार्यतः एक-दूसरे से शिकायत पैदा होती रहती है। ऐसे अवसर पर करने का काम यह है कि शिकायत का विचार आते ही तुरंत उसे अपने दिमाग़ से निकाल दिया जाए। शिकायत जब पैदा होती है तो वह पहले इंसान के चेतन मन (conscious mind) में होती है। अगर उसे याद रखा जाए या बार-बार दोहराया जाए तो धीरे-धीरे इंसान के अचेतन मन (unconscious mind) में चली जाती है और इस प्रकार बैठ जाती है कि इसके बाद किसी प्रकार उसे निकाला नहीं जा सकता।

ऐसी हालत में समझदारी यह है कि शिकायत के मामले को पहले ही चरण में बुझाने का मामला किया जाए। शिकायत पैदा होते ही उसे तुरंत ही समाप्त कर दिया जाए। अगर पहले ही चरण में उसे समाप्त न किया जाए तो धीरे-धीरे वह इंसान की मानसिकता का स्थायी अंश बन जाएगी। इसके बाद इंसान की सोच नकारातमक सोच बन जाएगी। वह दूसरों को अपना दुश्मन समझ लेगा। अगर कोई अवसर हुआ तो वह दूसरों के ख़िलाफ़ हिंसा पर उतर आएगा। यहाँ तक कि वह शिकायती लोगों से व्यावहारिक टकराव शुरू कर देगा, चाहे इसका परिणाम विपरीत रूप में क्यो न प्रकट हो।

शिकायत को पहले ही चरण में समाप्त करने का सूत्र क्या है? वह सूत्र क़ुरआन के शब्दों में यह है कि जो भी मुसीबत तुम पर आती है, वह तुम्हारे अपने हाथों की कमाई का नतीजा होती है (42:30)। इसका मतलब यह है कि जब भी आपको दूसरों के ख़िलाफ़ शिकायत पैदा हो तो तुरंत आपको यह करना चाहिए कि शिकायत की दिशा को अपनी ओर कर लें। मामले का कोई ऐसा कारण ढूँढें जिसमें क़ुसूर ख़ुद आपका निकलता हो। जब आपको यह अहसास होगा कि कमी ख़ुद आपकी है, न कि किसी और की तो ऐसी हालत में यह होगा कि आप अपनी कमियों को दूर करने में लग जाएँगे, न कि किसी काल्पनिक दुश्मन के ख़िलाफ़ याचना और विरोध-प्रदर्शन में समय नष्ट करेंगे।

जंग और अमन : इस्लाम में

इस्लाम में जंग और अमन की हैसियत क्या है, इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह देखना चाहिए कि इस्लामी मिशन का उद्देश्य क्या है। जंग और अमन दोनों भिन्न कार्य-शैली है, वह अपने आपमें उद्देश्य नहीं है। ऐसी हालत में अगर इसका निर्धारण हो जाए कि इस्लामी मिशन का लक्ष्य क्या है तो इसके बाद अपने आप इसका निर्धारण हो जाएगा कि इस्लाम का तरीक़ा जंग का तरीक़ा है या अमन का तरीक़ा।

क़ुरआन में इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया गया है। इस सिलसिले की एक संबंधित आयत यह है। क़ुरआन में पैग़ंबर-ए-इस्लाम को संबोधित करते हुए एक सामान्य आदेश इन शब्दों में दिया गया है— "ऐ मुहम्मद, लोगों के साथ तुम क़ुरआन के द्वारा बड़ा जिहाद करो।" (25:52)

क़ुरआन एक पुस्तक है, वह कोई गन या तलवार नहीं। ऐसी हालत में क़ुरआन के द्वारा जिहाद का मतलब स्पष्ट रूप से शांतिपूर्ण प्रयास (peaceful struggle) है, न कि सशस्त्र प्रयास (armed struggle)।

क़ुरआन जब एक वैचारिक पुस्तक है तो इसके द्वारा शांतिपूर्ण सघंर्ष का मतलब यही हो सकता है कि लोगों के ज़हनों को बदला जाए। लोगों की सोच को क़ुरआनी सोच बनाया जाए। दूसरे शब्दो में, क़ुरआन का मिशन ज़मीन पर क़ब्ज़ा करना नहीं है, बल्कि इंसान के ज़हन पर क़ब्ज़ा करना है। इस्लाम का लक्ष्य वैचारिक क्रांति है, न कि लोगों को शारीरिक रूप से पराजित करना।

क़ुरआन का अध्ययन किया जाए और यह देखा जाए कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपने मिशन को किस प्रकार जारी किया तो स्पष्ट होता है कि आपने अपना पूरा मिशन जिस लक्ष्य पर चलाया, वह यही था कि लोगों के दिलो-दिमाग़ को बदला जाए। क़ुरआन में बताया गया है कि ईश्वर ने अपने पैग़ंबर पर अपना कलाम इसलिए उतारा, ताकि वह लोगों को विचारों के अँधेरे से निकालकर विचारों के प्रकाश में ले आए (57:9)। एक वर्णन के अनुसार,

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि इंसान के सुधार के सिलसिले में असल महत्त्व केवल एक चीज़ का है और वह उसके दिल (आंतरिक, वैचारिक) का सुधार है। इंसान के दिल को बदल दो, फिर उसका पूरा जीवन बदल जाएगा। पैग़ंबर-ए-इस्लाम को मक्का में जब पहली वह्य मिली तो इस समय आपने वहाँ के लोगों को इकट्ठा करके फ़रमाया कि ऐ लोगो ! मैं इसलिए भेजा गया हूँ कि मौत के बाद आने वाले मामले की तुम्हें ख़बर दूँ। इसी प्रकार मदीना में जब आपने प्रभावशाली हैसियत से प्रवेश किया तो उस समय भी आपने वहाँ के लोगों से यही कहा कि ऐ लोगो! अपने आपको आग से बचाओ, चाहे छुहारे के एक टुकड़े के द्वारा ही क्यों न हो।

क़ुरआन और पैग़ंबर की जीवनी का अध्ययन बताता है कि क़ुरआन का लक्ष्य इंसान के ज़हन को बदलना है। यही इस्लामी मिशन का आरंभ भी है और यही इसका अंत भी, मगर दुनिया में हर प्रकार के लोग होते हैं और स्वयं सृष्टि-निर्माण योजना के अनुसार हर एक को पूरी आज़ादी प्राप्त है। इसी आज़ादी के आधार पर ऐसा हुआ कि कुछ लोग पैग़ंबर-ए-इस्लाम के विरोधी बन गए, यहाँ तक कि कुछ लोग इस आख़िरी हद तक गए कि उन्होंने आपके मिशन को समाप्त करने के लिए आपके ख़िलाफ़ जंगी कार्यवाहियाँ आरंभ कर दीं। यही वह मामला था जिसके आधार पर पैग़ंबर और आपके साथियों को अपनी रक्षा में वक़्ती तौर पर शस्त्र उठाने पड़े। इस ऐतबार से यह कहना सही होगा कि इस्लाम में अमन की हैसियत सामान्य नियम की है और जंग की हैसियत केवल एक अपवाद की।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम की पैग़ंबरी की अवधि 23 वर्ष है। इन 23 वर्षों में क़ुरआन अंतराल के साथ स्थिति के अनुरूप उतरता रहा। इस ऐतबार से अगर अवधि का विभाजन किया जाए तो मालूम होगा कि क़ुरआन का एक हिस्सा वह है, जो लगभग 20 वर्ष की मुद्दत तक फैला हुआ है और इसका दूसरा हिस्सा वह है, जो सामूहिक रूप से लगभग 3 वर्ष पर आधारित है। 20 वर्ष के समय में क़ुरआन में जो आयतें अवतरित हुईं, वह सब-की-सब शांतिपूर्ण शिक्षाओं से संबंध रखती हैं, जैसे— अक़ीदा (विश्वास), इबादत, न्याय, नैतिकता, मानवता आदि। जहाँ तक जंग की आयतों का संबंध है, वह केवल 3 वर्ष की अवधि में अवतरित हुईं, जबकि इस्लाम के मानने वालों को व्यवहारतः जंगी हमलों का ख़तरा था।

क़ुरआन में कुल 114 अध्याय हैं। सामूहिक रूप से क़ुरआन में कुल आयतों (सूक्तियाँ) की संख्या 6,666 है। इनमें मुश्किल से चालीस आयतें ऐसी हैं, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जंग से संबंध रखती हैं। इस अनुपात के ऐतबार से क़ुरआन में जंग से संबंध रखने वाली आयतों की संख्या एक फ़ीसद से भी कम है। इस प्रकार का अंतर हर देश के संविधान और हर धार्मिक पुस्तक में पाया जाता है, जैसे बाइबल में बहुत-सी शांति की शिक्षाएँ हैं। इसी के साथ ईसा मसीह की ज़ुबान से इसमें यह कथन भी मौजूद है कि मैं सुलह करवाने नहीं आया हूँ, बल्कि तलवार चलवाने आया हूँ।

"I do not come to bring peace but a sword."

इसी प्रकार भगवदगीता में बहुत-सी नैतिकता और ज्ञान की बातें हैं, मगर इसी के साथ गीता में यह भी मौजूद है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से आग्रह के साथ कहा कि हे अर्जुन ! आगे बढ़ो और युद्ध करो। बाइबल और गीता में इन कथनों की हैसियत अपवाद की है, न कि सामान्य नियम की।

इस्लाम की शांतिप्रिय कार्य-शैली का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस्लाम में दुश्मन और हमलावर के बीच अंतर किया गया है। इस्लाम की शिक्षा यह है कि अगर कोई गिरोह एकतरफ़ा आक्रमण कर दे तो इस समय आवश्यक बुराई (necessary evil) के रूप में आत्मरक्षा के लिए जंग की जा जाए। क़ुरआन में कहा गया है कि जंग करने की इजाज़त दी गई उन लोगों को, जिनके ख़िलाफ़ जंग छेड़ दी गई है (22:39)।

मगर जहाँ तक दुश्मन का संबंध है, उनके ख़िलाफ़ मात्र दुश्मनी के कारण जंगी कार्यवाही की इजाज़त नहीं। इस सिलसिले में क़ुरआन की एक आयत मुसलमानों को एक स्पष्ट आदेश देती है—

'भलाई और बुराई दोनों बराबर नहीं। तुम जवाब में वह कहो, जो इससे बेहतर हो। फिर तुम देखोगे कि तुम्हारे और जिसके बीच दुश्मनी थी, वह ऐसा हो गया, जैसे कोई क़रीबी दोस्त।" (41:34)

इस आयत में यह शिक्षा दी गई है कि कोई व्यक्ति तुम्हें दुश्मन नज़र आए तो उसे अपना हमेशा का दुश्मन न समझ लो। हर दुश्मन इंसान के अंदर तुम्हारा एक दोस्त इंसान छुपा हुआ है। इस दोस्त इंसान की खोज करो और इस संभावित दोस्त (potential friend) को असल दोस्त (actual friend) बनाओ, इसके बाद तुम्हें किसी से दुश्मनी की शिकायत न होगी।

इस मामले की ज़्यादा स्पष्टता एक हदीस से होती है। इस हदीस में हज़रत मुहम्मद की जनरल पॉलिसी को बताते हुए आपकी पत्नि आयशा ने कहा— "हज़रत मुहम्मद को जब भी दो मामलों में से एक का चुनाव करना होता तो आप हमेशा दोनों में से आसान का चुनाव करते थे।" (सही बुख़ारी, हदीस नं० 6,786)

यह स्पष्ट है कि किसी काम को करने की दो कार्य-शैली हैं। हिंसात्मक कार्य-शैली (violent method) और शांतिपूर्ण कार्य-शैली (peaceful method)। अब दोनों की तुलना की जाए तो मालूम होगा कि किसी विवादित मामले के समय हिंसक कार्य-शैली को अपनाना कठिन विकल्प (harder option) है और शांतिपूर्ण कार्य-शैली को अपनाना आसान विकल्प (easier option) है। इसके अनुसार इस्लाम की जनरल पॉलिसी यह है कि जब भी किसी पक्ष से कोई विवाद उत्पन्न हो तो उसके मुक़ाबले के लिए हमेशा शांतिपूर्ण कार्य-शैली का विकल्प चुना जाए, न कि हिंसक कार्य-शैली का। वर्तमान ज़माने में जबकि आज़ादी को इंसान के लिए परम सिद्ध अधिकार मान लिया गया है तो अब केवल शांतिपूर्ण कार्य-शैली का ही चुनाव किया जाएगा, क्योंकि समय के दृढ़ नियम के अनुसार, हिंसापूर्ण कार्य-शैली को अपनाने में यक़ीनन रुकावटें हैं, मगर शांतिपूर्ण कार्य-शैली को अपनाने में कोई रुकावट नहीं।

यहाँ यह वृद्धि करना उपयुक्त होगा कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ज़माने में सीमित अवस्था की जो कुछ लड़ाइयाँ पेश आईं, उनमें वास्तव में समय कारक (age factor) काम कर रहा था। यह लड़ाइयाँ सातवीं शताब्दी ईस्वी की शुरुआत में हुईं। यह ज़माना धार्मिक उत्पीड़न और धार्मिक दमन (religious persecution) का ज़माना था। उस ज़माने में वर्तमान प्रकार की धार्मिक सहनशीलता नहीं पाई जाती थी। इस आधार पर एकेश्वरवाद के विरोधियों ने पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ख़िलाफ़ आक्रामक कार्यवाही करके आपको लड़ने पर विवश कर दिया। मौजूदा ज़माने में धार्मिक आज़ादी हर व्यक्ति और हर समुदाय का एक मौलिक अधिकार (fundamental right) बन चुका है। इसलिए मौजूदा ज़माने में धार्मिक अधिकारों के लिए जंग का कोई सवाल ही नहीं।

इस्लाम में अमन का महत्त्व इतना ज़्यादा है कि हर अप्रिय स्थिति को सहन करते हुए शांति की स्थिति को स्थिर रखने का आदेश दिया गया है। विरोधी पक्ष के उत्पीड़न पर धैर्य व उपेक्षा का तरीक़ा अपनाना और इसे हर क़ीमत पर एकतरफ़ा युक्ति के द्वारा बाक़ी रखना इस्लाम का एक अहम नियम

है। यह हुक्म इसलिए दिया गया है कि इस्लाम की रचनात्मक गतिविधियाँ (creative activities) केवल शांतिपूर्ण और संतुलित वातावरण में ही अंजाम दी जा सकती हैं। इस मामले में केवल एक अपवाद है और वह दूसरे पक्ष की ओर से आक्रमण है।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने प्राचीन मक्का में अपने पैग़ंबराना मिशन का आरंभ किया। इस सिलसिले में आप 13 वर्ष तक मक्का में रहे। उस समय मक्का में आपके विरोधियों ने आप और आपके साथियों पर बहुत अत्याचार किए, मगर पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके साथियों ने इस अत्याचार को एकतरफ़ा तौर पर सहन किया। इसी धैर्य और उपेक्षा का एक रूप यह भी था कि पैग़ंबर और आपके साथियों ने जंग से बचने के लिए ऐसा किया कि मक्का से प्रवास करके मदीना चले गए।

आपके और आपके साथियों के प्रवास से मक्कावासी चुप न बैठे। हालाँकि मक्का और मदीना के बीच तीन सौ मील का फ़ासला है, फिर भी उन्होंने नियमित रूप से मदीने पर हमले शुरू कर दिए। इन हमलों को पैग़ंबर की जीवनी की पुस्तकों मे 'ग़ज़वा' यानी झड़प कहा जाता है। छोटी और बड़ी झड़पों की संख्या 83 तक की गई है, मगर पैग़ंबर और विरोधियों के बीच केवल तीन बार नियमानुसार जंग (full fledge war) हुई। इसका मतलब यह है कि 80 झड़पों में पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने उपेक्षा और अच्छी युक्ति के द्वारा दोनों पक्षों के बीच व्यावहारिक मुक़ाबले को टाल दिया। केवल तीन बार बदर, उहद, हुनैन नामक जगहों में मजबूरन, परिस्थितियों के आधार पर आपको जंगी मुक़ाबला करना पड़ा।

जंगी मुक़ाबले से बचने की इस पॉलिसी की एक मिसाल वह है जिसे 'सुलह हुदैबिया' कहा जाता है। जब पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके विरोधियों के बीच जंगी परिस्थितियाँ पैदा हो गईं तो आपने यह कोशिश की कि एकतरफ़ा युक्ति के द्वारा जंगी हालात को समाप्त कर दिया जाए और दोनों पक्षों के बीच शांतिपूर्ण वातावरण को बहाल किया जाए।

इस उद्देश्य के लिए आपने अपने विरोधियों से समझौते के लिए बातचीत शुरू कर दी। यह बातचीत दो सप्ताह तक जारी रही। यह समझौता मक्का के निकट हुदैबिया के स्थान पर हुआ, इसलिए इसे 'सुलह हुदैबिया' कहा जाता है। यह वास्तव में दोनों पक्षों के बीच एक शांति समझौता था। बातचीत के दौरान पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने देखा कि दूसरा पक्ष अपनी ज़िद को छोड़ने पर तैयार नहीं।

अतः आपने विरोधी पक्ष की एकतरफ़ा शर्तों को मानकर उनसे शांति का समझौता कर लिया।

इस संधि का उद्देश्य यह था कि दोनों पक्षों के बीच तनाव को समाप्त किया जाए और सामान्य वातावरण को स्थापित किया जाए, ताकि संतुलित हालत में निमंत्रण और निर्माण का वह कार्य किया जा सके, जो इस्लामी मिशन का असल उद्देश्य था। अतः हुदैबिया का समझौता होते ही हालात सामान्य हो गए और इस्लाम की समस्त रचनात्मक गतिविधियाँ पूरी शक्ति के साथ जारी हो गईं, जिसका परिणाम अंततः यह निकला कि इस्लाम पूरे क्षेत्र में फैल गया।

यहाँ यह वृद्धि करना आवश्यक है कि इस्लाम की शिक्षाओं के अनुसार जंग केवल नियमानुसार स्थापित सरकार का कार्य है, वह ग़ैर-सरकारी लोगों या संस्थाओं का काम नहीं। ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ अगर किसी सुधार की ज़रूरत महसूस करें तो वे केवल शांति की परिधि में रहकर अपना आंदोलन चला सकती हैं, हिंसा की सीमा में प्रवेश करना उनके लिए हरगिज़ जायज़ नहीं।

इस सिलसिले में दो बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। एक यह कि ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के लिए किसी भी कारणवश सशस्त्र आंदोलन चलाना जायज़ नहीं। दूसरी बात यह कि स्थापित सरकार के लिए हालाँकि रक्षात्मक जंग आदेशानुसार जायज़ है, मगर उसके लिए भी जंग की घोषणा करना शर्त है। इस्लाम में बिना घोषणा जंग करना बिल्कुल भी जायज़ नहीं। इन दो शर्तों को दृष्टिगत रखा जाए तो मालूम होगा गोरिल्ला वार या प्रॉक्सी वार दोनों ही इस्लाम में अवैध हैं। गोरिल्ला जंग इसलिए कि यह जंग ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की ओर से की जाती है और प्रॉक्सी वार इसलिए कि इसमें हालाँकि सरकार भी शामिल रहती है, मगर इसका शामिल होना बिना घोषणा के होता है और घोषणा के बिना जंग का औचित्य इस्लामी हुकूमत के लिए भी नहीं। क़ुरआन में वर्णन है— "उनका अहद उनकी तरफ़ फेंक दो, इस तरह कि तुम और वह बराबर हो जाए।" (8:58)

वर्तमान संसार की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि यहाँ अनिवार्यतः दो व्यक्ति या दो दलों के बीच विवाद की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। ऐसी हालत में इस्लाम का आदेश यह है कि विवाद को हिंसक टकराव तक न पहुँचने दिया जाए, इसी पॉलिसी को क़ुरआन में धैर्य और उपेक्षा का नाम दिया गया है। क़ुरआन में एक स्थायी नियम के रूप पर कहा गया है कि सुलह बेहतर है (4:128) यानी पारस्परिक विवाद के समय समझौता करके विवाद को समाप्त

कर देना नतीजे के ऐतबार से ज़्यादा बेहतर है। इसका कारण यह है कि समझौता या समझदारी का तरीक़ा अपनाने से यह अवसर मिल जाता है कि अपनी शक्ति को टकराव में नष्ट करने से बचाया जाए और उसे पूरी तरह रचनात्मक कामों में लगाया जाए। इसी नीति के आधार पर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— “तुम लोग दुश्मन से मुठभेड़ की तमन्ना न करो और ईश्वर से अमन माँगो।” (बुख़ारी)

इस संदर्भ में क़ुरआन की एक आयत इस प्रकार है— “जब कभी वे लड़ाई की आग भड़काते हैं तो ईश्वर इसे बुझा देता है।” (5:64)

इस क़ुरआनी आयत से जंग और अमन के बारे में इस्लाम की रूह मालूम होती है। वह यह कि वर्तमान संसार में विभिन्न कारणों से लोग बार-बार जंग पर आमादा हो जाते हैं। यह संसार की विशेष व्यवस्था की माँग है, जो प्रतिस्पर्धा (competition) के नियम पर बनाई गई है, मगर मुसलमानों का काम यह है कि दूसरे लोग जब जंग की आग को भड़काएँ तो वे एकतरफ़ा युक्ति के द्वारा इस आग को ठंडा कर दें। गोया मुस्लमानों का तरीक़ा जंग नहीं है, बल्कि जंग से उपेक्षा है। उन्हें एक ओर यह करना है कि जंग की हद तक जाए बिना अपने स्वार्थों की रक्षा करें। दूसरी ओर इनकी ज़िम्मेदारी यह भी है कि वे अमन के संदेशवाहक बनें। वे दुनिया में अमन के व्यापारी हों, न कि जंग के व्यापारी।

इस्लाम की यही स्पिरिट है जिसके आधार पर हम देखते हैं कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम को जब मदीने में सत्ता मिली तो आपने ऐसा नहीं किया कि लोगों को अपने अधीन करने के लिए जंग छेड़ दी हो। इसके बजाय आपने यह किया कि अरब में फैले हुए क़बीलों से बातचीत करके उनसे समझौते किए। इस प्रकार आपने पूरे अरब में फैले हुए क़बीलों को शांति समझौतों के प्रबंधन में बाँध दिया।

इस्लाम की शिक्षा का गहरा अध्ययन किया जाए तो मालूम होगा कि इस्लाम उन कारणों की जड़ काट देना चाहता है, जो जंग की ओर ले जाने वाले हैं। जंग करने वाला क्यों जंग करता है? इसके दो बुनियादी कारण हैं— एक है दुश्मन को समाप्त करने की कोशिश करना और दूसरा कारण है राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की कोशिश करना। इन दोनों उद्देश्यों के लिए इस्लाम में जंग का कोई औचित्य मौजूद नहीं।

जहाँ तक दुश्मन का मामला है, इस मामले में जैसा कि निवेदन किया गया है, क़ुरआन की यह आयत सार्वकालिक मार्गदर्शक की हैसियत रखती है—

“और भलाई और बुराई दोनों बराबर नहीं। तुम जवाब में वह करो, जो

इससे बेहतर हो। फिर तुम देखोगे कि तुम और जिसमें दुश्मनी थी, वह ऐसा हो गया, जैसे कोई क़रीबी दोस्त ।" (41:34)

इससे मालूम हुआ कि दुश्मन के मुक़ाबले में इस्लाम की शिक्षा यह है कि इसकी दुश्मनी को समाप्त किया जाए, न कि स्वयं दुश्मन को। इसके अनुसार कोई दुश्मन वास्तविक दुश्मन नहीं होता। हर दुश्मन इंसान के अंदर संभावी रूप में एक दोस्त इंसान छुपा हुआ है। इसलिए मुसलमानों को चाहिए कि एकतरफ़ा अच्छे व्यवहार के द्वारा अपने दुश्मन को अपना दोस्त बना लें।

क़ुरआन के अध्ययन से मालूम होता है कि क़ुरआन में दुश्मन और हमलावर के बीच भेद किया गया है। दुश्मन के बारे में यह है कि उससे नफ़रत का मामला न किया जाए, बल्कि अच्छी युक्ति के द्वारा उसे अपना दोस्त बनाने की कोशिश की जाए। अगर किसी ओर से एकतरफ़ा हमला कर दिया जाए तो ऐसे हमलावर के मुक़ाबले में सुरक्षा के दृष्टिकोण से जंग करना जायज़ है। यह हुक्म क़ुरआन की जिन आयतों से मालूम होता है, उनमें से एक आयत यह है—

"और ईश्वर की राह में उन लोगों से लड़ो, जो तुमसे लड़ते हैं और ज़्यादती न करो।" (2:192)

इस प्रकार की आयतों से मालूम होता है कि जंग की अनुमति केवल उस समय है, जब कोई पक्ष एकतरफ़ा तौर पर मुसलमानों पर दमनात्मक आक्रमण कर दे। इस प्रकार के व्यावहारिक दमन के बिना इस्लाम में जंग की अनुमति नहीं।

जंग और अमन के मामले में इस्लाम का जो बुनियादी नियम है, वह क़ुरआन के इन शब्दों से मालूम होता है—

"अतएव जब वह तुमसे सीधे रहें, तुम भी उनसे सीधे रहो।" (9:7)

इस क़ुरआनी आदेश से मालूम होता है कि समुदायों के बीच पारस्परिक संबंध का नियम यह है कि अगर दूसरा पक्ष अमन पर क़ायम हो तो मुसलमानों को भी अनिवार्यत: अमन की शैली अपनानी होगी। मुसलमान ऐसा नहीं कर सकते कि दूसरे पक्ष की शांतिपूर्ण शैली के बावजूद कोई दूसरा कारण लेकर उसके ख़िलाफ़ जंगी कार्यवाही करने लगें। इस विषय में व्यावहारिक रूप से जंग केवल उस स्थिति में जायज़ है, जब आप पर हमला कर दिया गया हो।

जैसा कि मालूम है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम का जन्म 570 ई० में मक्का में हुआ। 610 ई० में आपको पैग़ंबरी मिली। इसके बाद आप 23 वर्ष तक पैग़ंबर

की हैसियत से दुनिया में रहे। इस 23 वर्षीय काल के प्रारंभिक 13 वर्ष आपने मक्का में गुज़ारे और बाद के 10 वर्ष मदीना में। क़ुरआन की कुछ सूरतें मक्का में अवतरित हुईं और कुछ सूरतें मदीना में। इस पैग़ंबराना दौर में आपने क्या किया? आपने लोगों को "पढ़ अपने रब के नाम से जिसने पैदा किया" (क़ुरआन, 96:1) और इस प्रकार की दूसरी आयतें सुनाईं, जिनका जंग से कोई संबंध न था। आप लोगों से यह कहते रहे— "ऐ लोगो ! कहो कि ईश्वर के सिवा कोई पूज्य नहीं और तुम सफल हो जाओगे।"

आपने लोगों को दुआ और इबादत के तरीक़े बताए। लोगों को सदाचार और मानवता की शिक्षा दी। लोगों को बताया कि दूसरे लोग जब तुम्हें सताएँ, तब भी तुम धैर्य और उपेक्षा के साथ जीवन गुज़ारो। आपने क़ुरआन को एक सुधारवादी पुस्तक और आवाहनीय पुस्तक के रूप में लोगों के बीच सार्वजनिक किया। आपने यह नमूना क़ायम किया कि 'दारुल नदवा' (मक्का की संसद) में अपनी सीट हासिल करने के बजाय स्वर्ग में अपनी सीट हासिल करने का प्रयास करो। आपने लोगों को अपने अमल से यह सबक़ दिया कि काबा जैसी पवित्र इमारत में 360 बुत रखे हुए हों, तब भी टकराव का तरीक़ा अपनाए बिना तुम अपना मिशन शांतिपूर्ण रूप से आरंभ कर सकते हो। आपने यह नमूना स्थापित किया कि किस प्रकार यह संभव है कि इंसान उत्तेजक परिस्थितियों के बीच अपने आपको लोगों के ख़िलाफ़ नफ़रत से बचाए और शांतिपूर्वक रहकर लोगों की भलाई चाहने का काम अंजाम दे आदि-आदि।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपने जीवन में इस प्रकार के जो अहिंसात्मक काम किए, वह सब निःसंदेह महान इस्लामी कार्य थे, बल्कि यही पैग़ंबरी का मूल मिशन है। और जहाँ तक जंग का संबंध है, वह केवल एक अपवादिक आवश्यकता है, इसीलिए इस्लामी विद्वानों ने जंग को 'हुस्ने-लग़ीरह' बताया है यानी जंग इस्लाम के लिए नहीं है, बल्कि किसी वास्तविक कारण के लिए है। Not for the sake of Islam, but due to some practical reasons.

हुदैबिया संधि

हुदैबिया संधि क्या है? हुदैबिया संधि इस्लाम के प्रारंभिक इतिहास की एक अहम घटना है। जब यह संधि हुई तो इसके बाद क़ुरआन में यह आयत उतरी— "यह संधि तुम्हारे लिए एक खुली जीत है।"

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपना मिशन 610 ई० में आरंभ किया। यह मिशन एकेश्वरवाद का मिशन था। उस समय अरब में बहुत से अनेकेश्वरवादी लोग रहते थे। यह लोग आपके मिशन को पसंद नहीं करते थे। अतः यह लोग आपके कट्टर विरोधी बन गए। यहाँ तक कि उन्होंने आपके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। कई वर्ष लड़ाई का माहौल क़ायम रहा। लड़ाई के माहौल के कारण निमंत्रण और निर्माण का कार्य संतुलित रूप से जारी रखना संभव न रहा।

इस प्रतिकूल (unfavorable) वातावरण को समाप्त करने के लिए पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपने विरोधियों से सुलह की बातचीत आरंभ कर दी। यह बातचीत हुदैबिया नामक स्थान पर हुई। वह लोग कड़ी शर्तें पेश करते रहे, दो सप्ताह की बातचीत के बाद पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने यह किया कि अपने विरोधियों की प्रस्तुत की हुई सारी शर्तों को एकतरफ़ा तौर पर मानते हुए उनसे शांति समझौता कर लिया और इस प्रकार जंग की स्थिति को समाप्त कर दिया और अपने तथा विरोधियों के बीच शांति की स्थिति स्थापित कर दी।

इस संधि का परिणाम यह हुआ कि इस्लाम के अनुयायियों को निमंत्रण और निर्माण के अवसर प्राप्त हो गए। अतः सकारात्मक निर्माण का काम तेज़ी से जारी हो गया। इसके बाद केवल 2 वर्ष के अंदर इस्लाम को इतनी मज़बूती प्राप्त हुई कि शीघ्र रक्त बहाए बिना ही पूरे अरब में इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

हुदैबिया संधि कोई विशेष प्रकार की घटना नहीं, यह प्रकृति का एक सामान्य नियम है। दूसरे शब्दों में इसे एडजस्टमेंट की पॉलिसी कहा जा सकता है। वर्तमान संसार में कोई व्यक्ति या समुदाय अकेला नहीं है, बल्कि यहाँ दूसरे

बहुत से लोग मौजूद हैं। हर एक का इंट्रेस्ट अलग-अलग है। इस आधार पर बार-बार एक-दूसरे के बीच समस्याएँ पैदा होती हैं।

ऐसी स्थिति में केवल दो संभव रास्ते हैं— समस्याओं से टकराव शुरू कर देना या समस्याओं की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ जाना। पहला तरीक़ा जंग का तरीक़ा है और दूसरा तरीक़ा सुलह का तरीक़ा। क़ुरआन में वर्णन है— "सुलह बेहतर है" (4:128) यानी सुलह का तरीक़ा ज़्यादा फ़ायदेमंद है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने इसी क़ुरआनी मार्गदर्शन पर अमल करते हुए हुदैबिया संधि का मामला किया। यह संधि इस्लाम के लिए विजयी साबित हुई।

सुलह या एडजस्टमेंट का यह तरीक़ा स्वयं प्रकृति का तरीक़ा है। उदाहरण के रूप में— एक बहते हुए झरने को लीजिए। आप देखेंगे कि झरने के रास्ते में जब कोई पत्थर आता है तो वह पत्थर को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करता, वह पत्थर के किनारे से रास्ता निकालकर आगे बढ़ जाता है। इसी प्रकार जब एक व्यक्ति सड़क पर अपनी गाड़ी दौड़ाता है तो वह सामने की ओर से आने वाली गाड़ी से टकराता नहीं, बल्कि वह किनारे की तरफ़ मुड़कर आगे बढ़ जाता है।

इसी समझौतावादी तरीक़े का नाम हुदैबिया है। हुदैबिया के तरीक़े को एक वाक्य में इस प्रकार बताया जा सकता है—

"समस्याओं को नज़रअंदाज़ कीजिए और अवसरों का इस्तेमाल कीजिए।"

"Ignore the problems and avail the opportunities."

यह एक चिरस्थायी नियम है जिसका संबंध पूरे मानव जीवन से है। ख़ानदान का मामला हो या समाज का मामला या कोई अंतर्राष्ट्रीय मामला, हर जगह सफल जीवन का यही एक अकेला नियम है। सुलह हुदैबिया छोड़ने का परिणाम केवल टकराव है और टकराव से कोई समस्या हल नहीं होती। सुलह हुदैबिया का तरीक़ा अगर जीवन है तो टकराव और जंग का तरीक़ा केवल मौत।

सुलह हुदैबिया का तरीक़ा वर्तमान संसार में सफलता का अकेला तरीक़ा है। यह तरीक़ा इंसान को नकारात्मक सोच से हटाकर सकारात्मक सोच की तरफ़ लाता है। यह इंसान को इस नुक़सान से बचाता है कि वह टकराव में अपना समय नष्ट करे और मुमकिन दायरे में उपस्थित अवसरों को इस्तेमाल न कर सके। सुलह हुदैबिया का तरीक़ा इंसान को इस योग्य बनाता है कि वह अपने अहित (disadvantage) को हित (advantage) में परिवर्तित कर ले, अपने माइनस को प्लस बना सके। वह अपने 'नहीं' में 'है' का राज़ जान ले।

हिंसा का इस्लामीकरण

क़ुरआन ने बताया कि पहले इंसान 'आदम' के बेटे 'क़ाबील' ने एक निजी कारण से अपने भाई 'हाबील' को मार डाला। इसके बाद क़ुरआन में बताया गया है— "इसी कारण से हमने इसराईल की संतान पर यह लिख दिया कि जो व्यक्ति किसी की हत्या करे, बिना इसके कि जिसकी हत्या हुई है, उसने किसी की हत्या की हो या ज़मीन में उपद्रव किया हो तो जैसे हत्यारे ने सारी इंसानियत की हत्या कर डाली और जिसने एक जान को बचाया तो जैसे उसने सारी इंसानियत को बचा लिया और हमारे पैग़ंबर उनके पास निर्देश लेकर आए। इसके बावजूद उनमें से बहुत लोग ज़मीन में उपद्रव करते हैं।" (5:32)

इससे मालूम हुआ कि ईश्वरीय क़ानून में इंसान की हत्या करना हमेशा से एक अत्यंत बुरा अपराध क़रार दिया गया है, मगर इंसान अपने विद्रोह के आधार पर हर ज़माने में इसकी अवज्ञा करता रहा। फिर भी इस मामले में प्राचीन व आधुनिक ज़माने में एक अंतर पाया जाता है। पुराने ज़माने में इंसान या तो निजि स्वार्थ के लिए किसी की हत्या करता था या प्रतिशोध के लिए। इसलिए उस ज़माने में हत्या का मामला एक सीमा के अंदर रहता था। वह असीमित नृशंसता (heinous) की श्रेणी को नहीं पहुँचता था।

मौजूदा ज़माने में मानव हत्या का एक नया रूप सामने आया है। इसे वैचारिक हत्या कहा जा सकता है यानी एक दृष्टिकोण बनाकर लोगों की हत्या करना। सैद्धांतिक औचित्य (ideological justification) के तहत इंसानों का ख़ून बहाना। सिद्धांत पर आधारित हत्या के इस विचार ने इंसान के लिए यह संभव बना दिया कि वह दोषी और निर्दोष के अंतर को दृष्टिगत रखे बिना अंधाधुंध लोगों की हत्या करे, इसके बावजूद इसकी अंतरात्मा में कोई चुभन पैदा न हो, क्योंकि अपनी परिकल्पित आस्था के अनुसार वह समझता है कि वह सत्य के लिए लोगों की हत्या कर रहा है।

सैद्धांतिक हत्या के इस तरीक़े को बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कम्युनिस्टों ने ईजाद किया। यह लोग कम्युनिज़्म के दर्शन में टकराववादी भौतिकवाद

(dialectical materialism) में विश्वास रखते थे। इस विश्वास के अनुसार क्रांति केवल इस प्रकार आ सकती थी कि एक वर्ग दूसरे वर्ग को हिंसात्मक रूप से मिटा दे। इस विश्वास के तहत इन लोगों ने विभिन्न देशों में पाँच करोड़ से ज़्यादा इंसानों को मौत के घाट उतार दिया।

सैद्धांतिक हत्या का दूसरा भयानक उदाहरण वह है, जो मुस्लिम दुनिया में सामने आया। बीसवीं शाताब्दी के पहले हिस्से में इस अतिवादी सिद्धांत को प्रगति प्राप्त हुई। इस सिद्धांत को तरक़्क़ी देने और फैलाने में मौजूदा ज़माने के दो मुस्लिम संगठन विशेष रूप से ज़िम्मेदार हैं। अरब संसार में 'इख़्वानुल मुस्लिमून' और ग़ैर-अरब संसार में 'जमाअते-इस्लामी'।

इख़्वानुल मुस्लिमून ने अपने विशेष दृष्टिकोण के तहत यह नारा लगाया कि क़ुरआन हमारी जीवन-शैली है और जिहाद के द्वारा हमें इसे सारी दुनिया में लागू करना है। अरब संसार में यह नारा इतना लोकप्रिय हुआ कि सड़कों पर यह नग़मा सुनाई देने लगा—

"हलुम्मा नुक़ातिल, हलुम्मा नुक़ातिल–फाइन अल्किताला सबीलुर्रिशाद"

फ़िलिस्तीन से लेकर अफ़ग़ानिस्तान और चेचन्या से लेकर बोस्निया तक जहाँ-जहाँ इस्लामी जिहाद के नाम पर हिंसा की गई, वह सब इसी सिद्धांत का परिणाम था।

इसी प्रकार जमाअते-इस्लामी ने यह सिद्धांत बनाया कि वर्तमान ज़माने में सारी दुनिया में जिस व्यवस्था का प्रचलन है, वह ताग़ूती (शैतानी) व्यवस्था है। हर मुसलमानों का कर्तव्य है कि वे इस ताग़ूती व्यवस्था को मिटाएँ और इसकी जगह इस्लामी व्यवस्था को लागू करें। यह काम इतना आवश्यक है कि उपदेशों व प्रबोधन के द्वारा पूरा न हो तो मुसलमानों को चाहिए कि वे हिंसा की शक्ति को इस्तेमाल करके शैतान के चेलों से सत्ता की कुंजियाँ छीन लें और इस्लामी क़ानून की हुकूमत सारी दुनिया में लागू कर दें। पाकिस्तान और कश्मीर जैसे स्थानों पर जो हिंसा हो रही है, वह पूर्णतः इसी स्वयं-निर्मित सिद्धांत का परिणाम है।

सितंबर, 2001 से पहले और 11 सितंबर, 2001 के बाद दुनिया के विभिन्न स्थानों पर इस्लाम के नाम पर भयानक हिंसा हुई या हो रही है, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं दोनों तथाकथित क्रांतिकारी आंदोलनों का परिणाम है।

इन दोनों संगठनों के संस्थापकों के ग़लत चिंतन का आरंभ यहाँ से होता है कि इन्होंने संगठन और स्टेट के अंतर को नहीं समझा। जो काम केवल एक

व्यवस्थित स्टेट की ज़िम्मेदारी थी, इसे इन्होंने अपने बनाए हुए संगठन की ज़िम्मेदारी समझ लिया। इस्लामी शिक्षा के अनुसार, जिहाद संहार के अर्थों में और सामूहिक शरीअत को लागू करने जैसा काम पूर्ण रूप से सरकार की ज़िम्मेदारी है। इन उद्देश्यों के लिए संगठन बनाकर हंगामा बरपा करना इस्लाम में सिरे से जायज़ ही नहीं।

इस्लाम में संगठन की जो कार्य-सीमाएँ हैं, वह क़ुरआन की एक आयत से मालूम होती हैं। इस आयत में कहा गया है— "और ज़रूर है तुममें एक गिरोह हो, जो नेकी की तरफ़ बुलाए, भलाई का हुक्म दे और बुराई से रोके और ऐसे ही लोग कामयाब होंगे (3:104)।" इस क़ुरआनी आदेश के आम लोगों के लिए केवल दो उद्देश्यों के लिए संगठन बनाना जायज़ है। एक शांतिपूर्ण तरीक़े से सच्चाई का निमंत्रण और दूसरा शांतिपूर्ण नसीहत व उपदेश। सच्चाई के निमंत्रण से अभिप्राय ईश्वर का संदेश उसके बंदों तक पहुँचाना है और "भलाई का हुक्म दे और बुराई से रोके" से तात्पर्य मुसलमानों के अंदर उपदेश देने वाली ज़िम्मेदारियों को पूरा करना है। इसके अतिरिक्त सियासी हंगामों के लिए संगठन बनाना सरासर बिदअत* और दुष्कर्म है जिसका कोई औचित्य इस्लाम में नहीं। इसकी और ज़्यादा स्पष्टता यह है कि क़ुरआन में संगठन से अभिप्राय दल है, न कि कोई राजनीतिक पार्टी।

इख़्वानुल मुस्लिमून और जमाअते-इस्लामी के संस्थापकों ने जो स्व-निर्मित सिद्धांत बनाए, वे शरीअत के भी ख़िलाफ़ हैं और प्रकृति के भी ख़िलाफ़। इस प्रकार के अप्राकृतिक सिद्धांतों का बनाना हमेशा हिंसा से आरंभ होता है और पाखंड (hypocrisy) पर समाप्त होता है। लोगों के ज़हन में जब तक अपनी रोमानी कल्पनाओं (wishful thinking) का जुनून होता है, वे अपनी परिकल्पित क्रांति के लिए इतने दीवाने हो जाते हैं कि शहीद होने की इच्छा के नाम पर आत्मघाती बमबारी को भी जायज़ मान लेते हैं, मगर जब वास्तविकताओं की चट्टान उनके जूनून को ठंडा कर देती है तो इसके बाद वे पाखंडवादी शैली धारण कर लेते हैं यानी वैचारिक व आस्थावादी दृष्टि से अपने टकराववादी पूर्व सिद्धांत को मानना, मगर व्यवहारतः पूर्ण सहमति का तरीक़ा धारण करके अपने सांसारिक हितों को सुरक्षित कर लेना।

---

* अपनी इच्छानुसार इस्लाम धर्म में किसी चीज़ को सम्मिलित करना।

आतंकवाद क्या है?

आजकल आतंकवाद या दहशतगर्दी (terrorism) की बहुत ज़्यादा चर्चा है। लगभग हर देश में इस विषय पर लिखा और बोला जा रहा है, मगर जानकारी के अनुसार अभी तक इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा सामने न आ सकी। लोग आतंकवाद की निंदा करते हैं, मगर वे बता नहीं पाते कि आतंकवाद निर्धारित रूप से क्या है। मैंने इस सवाल को इस्लामी शिक्षाओं की रोशनी में समझने का प्रयास किया है। मेरे अध्ययन के अनुसार ग़ैर-सरकारी संगठनों या संस्थाओं का हथियार उठाना आतंकवाद है।

Armed struggle by non-governmental organization

इस्लाम आज़ादी का अधिकार स्वीकार करता है। इस्लामी शिक्षा के अनुसार क़ौमी या सियासी उद्देश्य के लिए शांतिपूर्ण आंदोलन चलाने का हक़ किसी भी व्यक्ति या संगठन को प्राप्त है। यह हक़ उसे उस समय तक प्राप्त रहेगा, जब तक वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी मामले में अति या कोई अपराध न करे। इस्लाम में हथियार का इस्तेमाल या किसी वास्तविक आवश्यकता के अंतर्गत सशस्त्र कार्यवाही का अधिकार केवल नियमानुसार स्थापित राज्य को प्राप्त है। ग़ैर-सरकारी संगठन को किसी भी कारण हथियार उठाने का अधिकार प्राप्त नहीं (इस इस्लामी आदेश का विवरण मेरी किताबों में देखा जा सकता है)।

अपराधी को दंड देना, हमलावर के मुक़ाबले में आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाना, इस प्रकार के मामले जो अंतर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार किसी स्थापित हुकूमत को सशस्त्र कार्यवाही करने का अधिकार देते हैं। यही स्वयं इस्लाम का नियम भी है। इस नियम की रोशनी में आतंकवाद की परिभाषा यह है कि आतंकवाद उस सशस्त्र कार्यवाही का नाम है, जो किसी ग़ैर-सरकारी संगठन ने की हो। यह ग़ैर-सरकारी संस्था चाहे कोई भी कारण प्रस्तुत करे, मगर वह हर हाल में अस्वीकार्य होगा। एक ग़ैर-सरकारी संगठन अगर यह प्रतीत

कराता है कि देश में कोई अन्याय हुआ है या अधिकारों को पैरों तले रौंदने की कोई घटना पेश आई है तो उसको केवल यह अधिकार है कि वह शांतिपूर्ण संघर्ष के दायरे में रहते हुए अपने प्रयत्न को जारी रखे। वह किसी भी हाल में और किसी भी कारणवश हिंसा का तरीक़ा धारण न करे।

अगर कोई व्यक्ति या कोई संगठन यह कहे कि हम तो शांतिपूर्ण कार्यवाही करना चाहते हैं, मगर दूसरे पक्ष शांतिपूर्ण कार्यवाही के द्वारा हमारा हक़ देने के लिए तैयार नहीं तो ऐसी हालत में हम क्या करें। उत्तर यह है कि इस मामले की ज़िम्मेदारी सरकार की है, न कि ग़ैर-सरकारी संगठन की। अगर किसी का यह अहसास हो कि सरकार अपनी ज़िम्मेदारी अदा नहीं कर रही है, तब भी उसके लिए जायज़ नहीं कि वह सरकार का कार्य स्वयं करने लगे। ऐसी हालत में भी उसके लिए केवल दो में से एक रास्ते का चुनाव है और वह है धैर्य या शांतिपूर्ण संघर्ष। मतलब या तो शांतिपूर्ण कार्यवाही करना या सिरे से कोई कार्यवाही ही न करना। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सरकारी आतंकवाद या सरकारी हिंसा पर क्या हुक्म है यानी अगर सरकार अवांछनीय हिंसा का वही कार्य करे, जो कोई ग़ैर-सरकारी संगठन करता है तो ऐसी हालत में लोगों के लिए उससे निपटने के लिए क्या हुक्म होगा। जवाब यह है कि राज्य की ओर से की जाने वाली हिंसा राज्य का अपने अधिकार का ग़लत इस्तेमाल है, जबकि ग़ैर-सरकारी संगठन के लिए हिंसा एक ऐसा काम है जिसे करने का उसे कोई अधिकार ही नहीं और यह स्पष्ट है कि अधिकार के बिना किसी काम को करना या फिर अधिकार रखते हुए उसका अनुचित इस्तेमाल (misuse) करना दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

दूसरे शब्दों में यह कि अगर ग़ैर-सरकारी संगठन या संस्था हिंसा करती है तो उससे उसका औचित्य पूछे बिना हिंसा करने से मना किया जाएगा। इसके विपरीत अगर कोई स्थापित राज्य अनुचित हिंसा करता है तो उसे सिर्फ़ समझाया जाएगा कि वह अपने प्राप्त अधिकारों का केवल जायज़ इस्तेमाल करे। अधिकार का नाजायज़ इस्तेमाल करके राज्य भी अपने आपको उसी प्रकार अपराधी बना लेता है, जिस प्रकार कोई ग़ैर-सरकारी संगठन।

इस बात को यूँ समझिए कि कोई सर्जन अगर ऑपरेशन के दौरान शरीर के ग़लत हिस्से पर सर्जिकल ब्लेड चलाए तो वह अपने अधिकार का ग़लत इस्तेमाल करने का अपराधी होगा। एक प्रशिक्षित सर्जन को सही जगह पर

सर्जिकल ब्लेड चलाने का अधिकार तो ज़रूर है, मगर ग़लत स्थान पर ब्लेड चलाने का उसे कोई अधिकार नहीं। इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति जो कि सर्जन नहीं है, वह किसी का ऑपरेशन करने लगे तो उसका ऐसा करना हर हाल में ग़लत होगा, क्योंकि एक ग़ैर-सर्जन को प्रत्यक्षतः न तो सही जगह पर सर्जिकल ब्लेड चलाने का अधिकार है और न ग़लत जगह पर।

फ़तह मुबीन का राज़

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ज़माने की एक घटना वह है जिसे सुलह हुदैबिया कहा जाता है। आप अपने साथियों के साथ उमरह के लिए मक्का जाना चाहते थे, मगर मक्का के सरदारों ने आपको मक्का में अनुचित रूप से प्रवेश न करने दिया। अरब के रीति-रिवाज के अनुसार मक्का के सरदारों का यह व्यवहार अनुचित था। इस प्रकार दोनों पक्षों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो गई। आपने इसका समाधान इस प्रकार निकाला कि मक्का में प्रवेश के अपने अधिकार को छोड़ दिया। बदले में मक्का वालों ने आपको युद्धविराम की ज़मानत दी, ताकि दोनों के बीच शांति का वातावरण स्थापित हो सके।

हुदैबिया की संधि होने के तुरंत बाद क़ुरआन का अध्याय नं० 48 अवतरित हुआ। इस अध्याय में घोषणा की गई कि सुलह हुदैबिया तुम्हारे लिए 'फ़तह मुबीन' यानी एक खुली विजय की हैसियत रखती है। क़ुरआन की इस आयत से एक अहम नियम निकलता है कि विवाद की समाप्ति हमेशा 'लो और दो' (give and take) के तरीक़े पर होती है। पैग़ंबर और आपके साथियों ने अपने विरोधियों की इस माँग को माना कि वे मक्का में प्रवेश के बारे में अपने अधिकार को छोड़ दें। इसके जवाब में विरोधी इस पर सहमत हुए कि वे मुसलमानों के ख़िलाफ़ अपनी जंगी कार्यवाही को छोड़कर उन्हें अमन के साथ काम करने का अवसर देंगे। इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वर्तमान दुनिया में सफलता उन लोगों के लिए है, जो हार की अनुभूति के बिना पीछे हटने को तत्पर हों। इस दुनिया में पाना केवल उस इंसान के भाग्य में है, जो दूसरों को देने के लिए राज़ी हो जाएँ। इस दुनिया में सफल क़दम बढ़ाने का सौभाग्य केवल उसे मिलता है, जो दूसरों को रास्ता देने का साहस अपने अंदर रखता हो।

इस नियम की रोशनी में कश्मीर की समस्या को समझिए। पाकिस्तान के लीडरों ने कश्मीर के विवाद को हल करने के लिए जो पॉलिसी अपनाई, वह पूर्ण

रूप से असफल साबित हुई। इसका अकेला कारण यह है कि वे इस मामले में कथित क़ुरआनी नियम को धारण करने में असफल रहे। उन्होंने अपने आपको जाना, मगर उन्होंने प्रकृति के क़ानून को नहीं जाना।

1947 में यह समस्या बिल्कुल साधारण थी, जैसा कि मैं 'अल-रिसाला' (लेखक की मासिक पत्रिका) में एक से ज़्यादा बार लिख चुका हूँ। उस समय यह समस्या अपनी प्राकृतिक हालत में थी। उस समय पाकिस्तानी लीडरों के लिए यह संभव था कि वे हैदराबाद पर अपने दावे को छोड़ दें और इसके नतीजे में पूरा कश्मीर इन्हें हासिल हो जाए, मगर पाकिस्तानी लीडर अपनी अबूझ नादानी के आधार पर ऐसा न कर सके और यह समस्या दोनों देशों के बीच एक विनाशकारी विवाद के रूप में शेष रही।

बांग्लादेश की जंग के बाद 1971 में पाकिस्तान के 93 हज़ार फ़ौजी भारत के क़ब्ज़े में आ गए। इस समय यह संभव था कि इन 93 हज़ार फ़ौजियों के बदले पाकिस्तान से कश्मीर के मामले का स्थायी फ़ैसला कर लिया जाए, मगर दोबारा दोनों देशों का नेतृत्व नाकाम रहा और इस मूल्यवान अवसर के बावजूद कश्मीर की समस्या यथावत हल न हो सकी।

2001 के अंत में आगरा में कश्मीर की समस्या पर दोनों देशों के लीडरों की कॉन्फ्रेंस हुई। इस अवसर पर मैंने यह प्रस्ताव दिया था कि वर्तमान स्थिति (status quo) को स्वीकार करके समझौता कर लिया जाए यानी कश्मीर का जो हिस्सा पाकिस्तान के क़ब्ज़े में आ चुका है, वह पाकिस्तान का हिस्सा बन जाए और इसका जो हिस्सा भारत के प्रबंधन में है, उसे भारत का स्थायी हिस्सा मान लिया जाए, मगर इस बार भी दोनों देशों के लीडरों के बीच कोई समझौता न हो सका और यह विवादित मामला पहले जहाँ था, वहीं अब भी बाक़ी रहा।

अंतिम विकल्प के तौर पर मैंने अल-रिसाला में यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि इस मामले में एक प्रकार की डी-लिंकिंग पॉलिसी (de-linking policy) धारण कर ली जाए। इसका मतलब यह है कि कश्मीर की राजनीतिक समस्या को दूसरे महत्त्वपूर्ण इंसानी समस्याओं से अलग कर दिया जाए। कश्मीर की समस्या को कठोरता के साथ शांतिपूर्ण बातचीत की मेज़ पर रख दिया जाए और इसके अतिरिक्त जो प्रमुख अराजनीतिक मामले हैं, उनमें पूरी तरह सामान्य पॉलिसी धारण कर ली जाए, जैसे— व्यापार, शिक्षा, आवागमन, पर्यटन, सांस्कृतिक संबंध और दूसरे इंसानी मामलों में इसी प्रकार सामान्य संबंध

स्थापित कर लिए जाएँ, जिस प्रकार भारत और नेपाल के बीच या यूरोप के एक देश और दूसरे देश के बीच है। इस पॉलिसी का यह फ़ायदा होगा कि कश्मीर की समस्या दूसरी इंसानी और राष्ट्रीय प्रगति में बाधा न रहेगी, जैसा कि वह अब बनी हुई है। कश्मीर के मामले में पाकिस्तानी लीडरों की सबसे बड़ी ग़लती यह है कि वे अब भी अतीत में जी रहे हैं। वे अपनी ग़लती की क़ीमत दूसरे पक्ष से वसूलना चाहते हैं। वे प्रकृति के अपरिवर्तनीय (unchangeable) नियम की अनदेखी करके अपनी मनगढ़ंत परिकल्पनाओं की बुनियाद पर अपनी एक दुनिया बनाना चाहते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा होना सभंव नहीं।

कश्मीर के बारे में पाकिस्तान की वर्तमान अवास्तविक शैली (unrealistic approach) ने पाकिस्तान को भारी नुक़सान पहुँचाया है। अब अगर पाकिस्तान अपनी इस अयथार्थवादी शैली पर बाक़ी रहता है तो इसका आख़िरी नतीजा दोनों देशों के बीच विनाशकारी जंग है। ईश्वर न करे कि अगर यह जंग होती है तो दोनों देशों के लिए यह भारी नुक़सान का कारण होगी। दोनों देशों के बीच यह अंतर है कि भारत एक बड़ा देश होने के कारण फिर भी इसे सहन कर लेगा, मगर जहाँ तक पाकिस्तान का सवाल है तो वह भारत की तुलना में बहुत छोटा देश है। जंग के परिणामस्वरूप यह निश्चित है कि पाकिस्तान, जो कि भारत का कश्मीर पर कोई अधिकार मानने को तैयार नहीं, इतना बरबाद हो जाएगा कि वह अपने को बचाने और जीवित रखने के लिए दूसरे देशों की अधीनता स्वीकार कर लेगा और जहाँ तक कश्मीर का सवाल है, इसका राजनीतिक नक़्शा बिना किसी परिवर्तन के वही रहेगा, जो आज हमें नज़र आता है।

इस्लाम के नाम पर ग़ैर-इस्लाम

एक शिक्षित मुसलमान जो अमेरिका में रहते हैं, उन्होंने एक मुलाक़ात के दौरान कहा कि आजकल अमेरिका में इस्लाम की छवि इतनी ख़राब हो गई है कि अपने को मुसलमान बताते हुए घबराता हूँ। कोई मुझसे मेरा मज़हब पूछता है तो मैं कहता हूँ कि मैं मानवता के मज़हब को मानता हूँ। अगर मैं अपना मज़हब इस्लाम बताऊँ तो वह तुरंत कहेगा, फिर तो तुम एक दहशतगर्द हो।

Then you must be a terrorist.

उन्होंने कहा कि इस्लाम की यह छवि आधुनिक मीडिया ने बनाई है। मैंने कहा कि नहीं, बल्कि इस्लाम की यह छवि मुसलमानों ने स्वयं बनाई है। असल बात यह है कि मुसलमान जगह-जगह इस्लाम के नाम पर हिंसा के आंदोलन चला रहे हैं। इसी को मीडिया के लोग रिपोर्ट करते हैं। मुसलमान अपने यह आंदोलन चूँकि इस्लाम के नाम पर चलाते हैं, इसलिए मीडिया में उनके बारे में रिपोर्ट भी इस्लाम से जोड़कर दी जाती हैं। जब मुसलमान स्वयं इस प्रकार के आंदोलनों को इस्लाम के नाम पर चला रहे हों तो मीडिया इन्हें किसी और नाम से कैसे रिपोर्ट करेगा।

उन्होंने कहा कि इस प्रकार के हिसांत्मक आंदोलन केवल कुछ मुसलमान चलाते हैं, न कि सारे मुसलमान। फिर इनके आधार पर सारे मुसलमानों के बारे में नकारात्मक राय बनाना कैसे सही हो सकता है। मैंने कहा यह सही है कि इस प्रकार के आंदोलन थोड़े मुसलमान चलाते हैं, मगर इसी के साथ यह भी सही है कि शेष मुसलमान इन आंदोलनों की खुली निंदा नहीं करते। वे इनके बारे में ख़ामोशी का तरीक़ा धारण किए हुए हैं। इसलिए स्वयं इस्लामी नियम के अनुसार यह कहना सही होगा कि इस्लाम के नाम पर नफ़रत और हिंसा के इन आंदोलनों को चलाने के लिए अगर थोड़े लोग सीधे तौर पर (directly) ज़िम्मेदार हैं तो शेष लोग इसके लिए अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) ज़िम्मेदार हैं।

मौजूदा ज़माने में मुसलमानों की यह नीति अत्यंत खेदजनक है। इस्लामी

राज्य और निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा* और इस्लामी जिहाद के नाम पर ऐसे काम किए जा रहे हैं, जो सरासर इस्लाम के ख़िलाफ़ हैं। जो लोगों को ईश्वर के रास्ते के पास लाने के बजाय उन्हें इससे दूर कर रहे हैं। इसी चिंताजनक मौजूदा हालात को देखकर एक शायर ने कहा है—

"किसे ख़बर थी कि लेकर चिराग़-ए-मुस्तफ़वी, जहाँ में आग लगाती फिरेगी बू लहबी।"

इस्लामी व्यवस्था

मौजूदा ज़माने में इस प्रकार के हिंसावादी आंदोलन इस्लामी शासन या निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा के नाम पर चलाए जा रहे हैं, मगर हक़ीक़त यह है कि ये आंदोलन इस्लाम के नाम पर राजनीतिक नेतृत्व करने के अर्थ के समान हैं। राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए आंदोलन चलाना इस्लाम में जायज़ ही नहीं। इस्लामी आंदोलन का उद्देश्य व्यक्ति को 'इस्लामाइज़' करना है, न कि राज्य या स्टेट को इस्लामाइज़ करना। सूफ़ियों ने सैकड़ों वर्ष तक जो काम किया, वह व्यक्ति को इस्लामाइज़ करने का काम था। यह काम शांतिपूर्वक निरंतर जारी रहा, वह कभी नफ़रत और हिंसा फैलाने का ज़रिया न बन सका। सूफ़ियों के द्वारा शांति और मानवता को प्रगति प्राप्त हुई, जबकि वर्तमान तथाकथित क्रांतिकारी आंदोलन विपरीत परिणाम प्रकट कर रहे हैं।

इस्लाम के साथ नफ़रत और हिंसा का संबंध होना केवल मौजूदा ज़माने के तथाकथित लीडरों का उत्पन्न किया हुआ है, जिन्होंने स्वयं-निर्मित रूप से शासन व सत्ता को लक्ष्य बनाकर अपने आंदोलन चलाए। इन लोगों ने अपनी राजनीतिक कार्यवाहियों से इस्लाम को हिंसा और नफ़रत का मज़हब बना दिया है। इस्लाम ईश्वर का भेजा हुआ मार्गदर्शन है। यह शांति और भलाई चाहने का मज़हब है। मुसलमान इंसानियत का शुभचिंतक होता है, न कि इंसानियत का नैतिक फ़ौजदार।

---

* हज़रत मुहम्मद द्वारा निर्धारित व्यवस्था।

इस्लामी जिहाद

अगर एक व्यक्ति मैदान में खड़ा होकर अपने हाथ-पाँव हिलाए या उठ-बैठ करे और कहे कि मैं नमाज़ पढ़ रहा हूँ तो इसके कहने से इसका यह काम नमाज़ नहीं बन जाएगा। नमाज़ की कुछ निर्धारित शर्तें हैं; इन शर्तों के साथ जो काम किया जाए, वह नमाज़ है, अन्यथा वह नमाज़ नहीं।

यही मामला इस्लामी जिहाद का है। जिहाद की कुछ निर्धारित शर्तें हैं। इन शर्तों की पाबंदी के साथ जो काम किया जाए, वह ईश्वर के निकट जिहाद होगा और जिस काम में यह शर्तें न पाई जाएँ, वह बेमतलब हंगामा करना है, न कि वास्तविक अर्थों में जिहाद।

इस्लामी जिहाद वह है, जो ईश्वर के मार्ग में किया जाए। राज्य या धन-दौलत जैसी सांसारिक चीज़ों के लिए लड़ाई छेड़ना और इसे जिहाद बताना केवल फ़साद है। ऐसे लोगों को किसी भी हाल में इस्लामी जिहाद का क्रेडिट नहीं दिया जा सकता। इसी तरह इस्लामी शरीअत के अनुसार किसी के ख़िलाफ़ जंग की घोषणा नियमित रूप से एक स्थापित राज्य ही कर सकता है। किसी व्यक्ति को यह अनुमति नहीं कि वह ख़ुद जिहाद के नाम पर किसी के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दे। लोगों को चाहे कोई भी शिकायत हो, मगर इन्हें अनिवार्यतः शांतिपूर्ण परिधि में काम करना है। जंग और हिंसा का तरीक़ा धारण करना इनके लिए किसी भी हाल में जायज़ नहीं।

इसी तरह जिहाद (संहार के मतलब में) पूर्णतः एक रक्षात्मक कार्यवाही है। आक्रमण इस्लाम में बिल्कुल भी जायज़ नहीं। अगर कोई क़ौम अकारण हमला करे, तब भी पहले जंग को टालने का हर संभव प्रयास किया जाएगा। जंग सिर्फ़ उस समय की जाएगी, जबकि इसे टालने या उपेक्षा करने के समस्त प्रयास नाकाम हो चुके हों। पैग़ंबर-ए-इस्लाम के विरोधियों ने इन्हें 80 से ज़्यादा बार जंग और टकराव में उलझाना चाहा, मगर हर बार आपने सुंदर युक्ति से जंग को टाल दिया। केवल बदर, उहद, हुनैन के तीन अवसरों पर आपने

व्यावहारिक रूप से जंग की, क्योंकि इन अवसरों पर जंग के अलावा और कोई भी विकल्प बाक़ी नहीं रहा था।

इसी प्रकार ख़ुद राज्य के लिए भी जंग करना केवल उसी समय जायज़ होगा, जबकि उसने जंग की आवश्यक तैयारी कर ली हो। आवश्यक तैयारी के बिना जंग में कूदना आत्महत्या है, न कि इस्लामी नज़रिए से कोई जिहाद। इस्लाम में केवल परिणामजनक अग्रसरता की अनुमति है। जिस अग्रसरता का कोई सकारात्मक परिणाम न निकले, वह अपनी हक़ीक़त के ऐतबार से आत्महत्या की एक छलांग है, न कि कोई इस्लामी या धार्मिक कार्यवाही।

इस्लाम में जंग भी उसी वक़्त जायज़ है, जबकि वह एक खुली घोषणा के साथ की जाए। ख़ुफ़िया तरीक़े की जंगी कार्यवाही करना इस्लाम में बिल्कुल जायज़ नहीं। इस नियम के आधार पर प्रॉक्सी वार (proxy war) इस्लाम में नाजायज़ हो जाता है, क्योंकि प्रॉक्सी वार में शामिल राज्य ख़ुफ़िया मदद के द्वारा किसी और गिरोह से हिंसा का काम कराता है। वह घोषणा के साथ इसमें सम्मिलित नहीं होता।

हाईजैक करना

मौजूदा ज़माने के कुछ मुसलमान अपने परिकल्पित शत्रुओं के ख़िलाफ़ वह हिंसावादी कार्यवाहियाँ कर रहे हैं, जिसे हाईजैकिंग कहा जाता है। इस प्रकार के समस्त तरीक़े इस्लाम में सरासर नाजायज़ हैं। जो लोग ऐसा करते हैं, वे निश्चित रूप से ईश्वर की पकड़ से बेख़ौफ़ हैं, वरना वे हरगिज़ ऐसी निंदनीय हकरतें न करें।

हवाई जहाज़ को हाईजैक करना बेकुसूर इंसानों को अपने ज़ुल्म का निशाना बनाना है। इस प्रकार की कायरता इंसानियत के ख़िलाफ़ भी है और ईश्वर के धर्म के ख़िलाफ़ भी।

हाईजैकिंग का ग़ैर-इस्लामी होना इस्लामी इतिहास के प्रारंभिक दौर की इस घटना से साबित है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम के विरोधी जो मक्का में थे, उन्होंने इंसानियत के ख़िलाफ़ यह अपराध किया कि उन्होंने कुछ मुसलमानों को अपने यहाँ क़ैद किया हुआ था। इस दौरान पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके विरोधियों के बीच एक शांति समझौता हुआ, जो 'सुलह हुदैबिया' के नाम से

प्रसिद्ध है। इस समझौते के समय पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने विरोधियों से यह माँग नहीं की कि तुम लोग हमारे साथियों को वापस करो, लेकिन स्वयं एकतरफ़ा तौर पर यह घोषणा की कि अगर तुम्हारा कोई आदमी हमारे क़ब्ज़े में आ जाएगा तो हम उसे अपने पास नहीं रोकेंगे, बल्कि उसे तुम्हारी तरफ़ वापस कर देंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरा पक्ष अगर हमारे साथियों को बंदी बना ले, तब भी हमारे लिए यह उचित नहीं कि हम उनके साथियों को बंदी बनाने लगें।

असल ज़िम्मेदार

मौजूदा ज़माने में इस्लाम के नाम पर नफ़रत और हिंसा का जो तूफ़ान बरपा है, इसका असल ज़िम्मेदार कौन है। इसका असल ज़िम्मेदार वह मुस्लिम नौजवान नहीं है, जो नफ़रत और हिंसा के कथित काम में ग्रस्त है, बल्कि इसका असल ज़िम्मेदार तथाकथित वह इस्लामी चिंतक हैं, जिन्होंने इन नौजवानों को इस्लामी क्रांति के नाम पर एक ऐसा विचार दिया, जो व्यावहारिक रूप से सिर्फ़ नकारात्मक नतीजा पैदा कर सकता था और वही इसने पैदा किया।

इस्लाम का तरीक़ा दावत* का तरीक़ा है। इसके विपरीत दूसरा तरीक़ा राजनीति का तरीक़ा है। दावत का तरीक़ा अमन की बुनियाद पर चलता है और राजनीति का तरीक़ा टकराव की बुनियाद पर चलाया जाता है। मौजूदा ज़माने के तथाकथित विचारकों ने इस्लाम की जो व्याख्या की, उसका नतीजा यह हुआ कि इस्लामी आंदोलन राजनीति का आंदोलन बन गया और फिर ग़लत रूप से इस्लाम के साथ वह समस्त अप्रशंसनीय चीज़ें जुड़ गईं, जो केवल राजनीति और राजनीतिक आंदोलन का हिस्सा हैं।

दावत अपने प्राकृतिक स्वभाव के आधार पर दूसरे पक्ष को अपने संभावी दोस्त के रूप में देखती है। राजनीति का मामला इसके बिल्कुल विपरीत है। राजनेता अपने विशेष स्वभाव के आधार पर दूसरे पक्ष को अपने प्रतिद्वंद्वी और दुश्मन के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि दावत से 'रहमत कल्चर' अस्तित्व में आता है और राजनीति से केवल 'नफ़रत कल्चर'। जिस समाज में रहमत

---

* लोगों को ईश्वर के संदेश से परिचित कराना।

कल्चर हो, वहाँ हर प्रकार की अच्छाइयाँ उन्नति पाएँगी और जहाँ नफ़रत कल्चर सामने आए, वहाँ हर प्रकार की बुराई और हिंसा फैलेगी। नफ़रत के साथ कभी कोई अच्छाई इकट्ठा नहीं हो सकती।

करने के असल काम

हक़ीक़त यह है कि मुसलमानों की ओर से मौजूदा ज़माने में कई क़िस्म के राजनीतिक हंगामे जारी हैं। यह न केवल ग़ैर-इस्लामी हैं, बल्कि वह अत्यंत बेफ़ायदा भी हैं। आधुनिक इतिहास इसके सबूत के लिए पर्याप्त है।

जैसा कि ज्ञात है बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (first half) में ज़्यादातर मुस्लिम देश पश्चिमी शाक्तियों के अधीन थे, चाहे प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से। इसके बाद स्वतंत्रता के आंदोलन चले। आज यह समस्त मुस्लिम देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं। इन देशों की संख्या लगभग 60 तक पहुँच चुकी है। गणना के ऐतबार से संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों में सबसे ज़्यादा संख्या मुस्लिम देशों की है। इसके बावजूद वैश्विक राजनीतिक नक़्शे पर मुसलमानों का कोई वज़न नहीं है। इसकी वजह यह है कि पुराने ज़माने में राजनीतिक सत्ता ही सब कुछ हुआ करती थी, मगर मौजूदा ज़माने में राजनीतिक सत्ता की हैसियत दूसरे नंबर की बन गई है। अब शिक्षा, साइंस और टेक्नोलॉजी, मतलब शास्त्र की महत्ता है। केवल राजनीतिक तौर पर आज़ाद होना आज की दुनिया में कोई महत्त्व नहीं रखता।

वर्तमान मुस्लिम देश चूँकि अराजनीतिक विभागों में दूसरे समुदायों से पीछे हैं, इसलिए सांसारिक नक़्शे पर इनका कोई महत्त्व नहीं। इनकी जनता ज़्यादातर अशिक्षित है। साइंस और टेक्नोलॉजी में वे अभी तक पश्चिमी देशों के मोहताज हैं। आधुनिक ज़माने के अनुरूप इन्हें आर्थिक प्रगति प्राप्त नहीं। प्रत्यक्ष में राजनीतिक सत्ता का मालिक होने के बावजूद जीवन के समस्त विभागों में पिछड़े हुए हैं। एक हदीस के अनुसार, वे दूसरे समुदाय के मुक़ाबले में माँगने वाला निचला हाथ बने हुए हैं। आज़ादी के बावजूद वे व्यवहारतः पराधीनता (subjugation) की हालत में पड़े हुए हैं।

देखने वाली बात यह है कि बहुत से मुस्लिम देश हैं, जहाँ इनके दावे के अनुसार परिकल्पित इस्लामी क्रांति आ चुकी है, जैसे— मिस्र, पाकिस्तान, ईरान, अल्जीरिया, सूडान, अफ़ग़ानिस्तान आदि, मगर हक़ीक़त यह है कि

तथाकथित इस्लामी देश भी उन्हीं गंभीर समस्याओं का शिकार हैं, जिनका शिकार दूसरे मुस्लिम देश हैं जिनको धर्मनिरपेक्ष देश कहा जाता है।

इसका कारण यह है कि शैक्षिक और आर्थिक क्षेत्र में ये तथाकथित मुस्लिम देश भी उतना ही पिछड़े हुए हैं, जितना दूसरे सेकुलर मुस्लिम देश। इसलिए आज करने का असल काम यह है कि मौजूदा ज़माने की मुस्लिम पीढ़ियों को इन अराजनीतिक विभागों (non-political institutions) में आगे बढ़ाया जाए और निःसंदेह यह सब अराजनीतिक काम हैं, जिनका राजनीति और सत्ता से कोई संबंध नहीं। ज़्यादा यह कि इन अराजनीतिक क्षेत्रों में काम करना शुद्ध शांति के दायरे में संभव है। इन मैदानों में आगे बढ़ने के लिए न नफ़रत फैलाने की ज़रूरत है और न हिंसा भड़काने की। यह सारे सकारात्मक प्रकार के काम हैं। इनका नकारात्मक गतिविधियों से कोई संबंध नहीं।

इस्लामी जिहाद

जिहाद जीवन की एक हक़ीक़त है। जिस चीज़ को हम कर्म या परिश्रम (struggle) कहते हैं, उसी का अरबी पर्यायवाची 'जिहाद' है। जिहाद न कोई रहस्मय चीज़ है और न ही वह हिंसा के अर्थ के समान है। यह साधारण रूप से भरपूर प्रयत्न करने के लिए बोला जाने वाला एक शब्द है।

उर्दू भाषा में हम कहते हैं कि जब मैं बड़ा हुआ और जीवन की जद्दोजहद के चरण में प्रवेश किया। इसी प्रकार अरबी में कहा जाता है 'बज़ल जुहदा' यानी इसने भरपूर प्रयास किया। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में कहते है— We must struggle against this prejudice.

किसी मक़सद को हसिल करने की कोशिश करना एक आम इंसानी गुण है। इसके लिए जिस तरह हर भाषा में शब्द हैं, उसी प्रकार अरबी भाषा में भी शब्द हैं। जिहाद का शब्द भी मूलतः यही भावार्थ रखता है। प्रयास के लिए अरबी में 'सई' एक सामान्य शब्द है, लेकिन जिहाद के शब्द में अतिशयोक्ति का तत्त्व शामिल है अर्थात बहुत ज़्यादा प्रयास करना।

निःसंदेह यहाँ एक अंतर पाया जाता है। जब हम कोशिश, जद्दोजहद या स्ट्रगल का शब्द बोलें तो इसमें पुण्य या इबादत का भाव शामिल नहीं रहता, लेकिन जिहाद का शब्द जब इस्लामी परिभाषा बना तो इसमे पारिभाषिक रूप से

यह भावार्थ भी शामिल हो गया अर्थात कोशिश का मतलब अगर केवल कोशिश का है तो जिहाद का मतलब एक ऐसी कोशिश करना है, जो इबादत हो और जिसमें व्यस्त होने पर इंसान को पुण्य प्राप्त होता है, जैसा कि क़ुरआन में वर्णन है।

जिहाद शब्दकोश में

जिहाद का मूल शब्द 'जुहद' है। इसका मतलब प्रयास करना है, लेकिन 'जुहद' के तत्त्व में अतिशयोक्ति का भाव शामिल है, जैसे कहा जाता है 'जुहद अल-लबन'— यानी कोशिश करके सारा मक्खन निकाल लेना और 'अजहुदल दाब्बाह' यानी जानवर के ऊपर ताक़त से ज़्यादा लादना। इसी तरह कहा जाता है 'बज़्ल जुहदा' यानी इसने अपनी पूरी ताक़त लगा दी। इसी तरह कहा जाता है 'ला बलग़न जुहीदाई फ़िल अम्र' यानी मैं मामले में अपनी ओर से पूरा प्रयास करूँगा— जिहाद या मुजाहिदा का भावार्थ भी यही है। क़ुरआन में वर्णन है— "जाहिदु फ़िल्लाहि हक़्क़ जिहादा" यानी ईश्वर के रास्ते में पूरी कोशिश करो, जैसा कि कोशिश करने का हक़ है।

प्रसिद्ध अरबी शब्दकोश 'लिसानुल अरब' में बताया गया है कि 'जुहद' का मतलब भरपूर प्रयास करना है, जैसे कहा जाता है—

جَہَدْتُ جَہْدي واجْتَہَدتُ رأْيِي وَنَفْسِي حَتَّى بَلَغْتُ مَجھودي

अर्थात मैंने हर तरह से प्रयास किया, यहाँ तक कि मैंने अपनी अंतिम सीमा तक प्रयास कर डाला (पृष्ठ 133)। इसी तरह कहा जाता है—

جَہَدَ الرَّجُلُ فِي كَذَا أَي جدَّ فِيهِ وَبَالَغَ

आदमी ने किसी काम को करने में प्रयास किया और भरपूर प्रयास कर डाला। जिहाद या इज्तिहाद का मतलब है بَذَلَ الوُسْعَ فِي طَلَبِ الأمرِ अर्थात किसी काम में अपनी पूरी कोशिश लगा देना।

परिस्थितियों के ऐतबार से कभी-कभी जिहाद या जद्दोजहद का प्रयोग दुश्मनों से मुक़ाबले में किया जाता है। इस समय प्रयोग के आधार पर, न कि शब्दकोश के आधार पर इसमें जंग का भावार्थ भी सम्मिलित हो जाता है। अतः प्रसिद्ध इस्लामी विद्वान इमाम राग़िब असफ़हानी ने प्रयोग के संबंध में जिहाद के तीन प्रकार बताए हैं— प्रत्यक्ष दुश्मन से मुक़ाबला, शैतान से मुक़ाबला और नफ़्स से मुक़ाबला।

जिहाद क़ुरआन में

क़ुरआन में जिहाद या उसका अमौलिक रूप इसी अर्थ में आया है, जिस अर्थ में वह अरबी शब्दकोश में प्रयोग होता है अर्थात किसी उद्देश्य के लिए अतिशयोक्ति के साथ प्रयास करना। जिहाद शब्द क़ुरआन में चार बार प्रयोग हुआ है और हर जगह यह शब्द प्रयास और जद्दोजहद के अर्थ में है, न कि सीधे रूप से जंग व संहार के अर्थ में।

इस सिलसिले में पहली क़ुरआनी आयत का अनुवाद यह है— "कहो कि अगर तुम्हारे बाप और तुम्हारे बेटे और तुम्हारे भाई और तुम्हारी पत्नियाँ और तुम्हारा ख़ानदान और वह धन-संपत्ति जो तुमने कमाई है और वह व्यापार जिसके बंद होने से तुम डरते हो और वह घर जिन्हें तुम पसंद करते हो— यह सब तुम्हें ईश्वर और उसके पैग़ंबर और उसकी राह में जिहाद करने से ज़्यादा प्रिय है तो इंतज़ार करो, यहाँ तक कि ईश्वर अपना आदेश भेज दे और ईश्वर अवज्ञाकारी लोगों को रास्ता नहीं दिखाता।" (9:24)

इस आयत में मुसलमानों को आदेश दिया गया है कि वे क़ुर्बानी की हद तक जाकर इस्लाम के दावती मिशनमें पैग़ंबर का साथ दें, चाहे इस काम में उनके व्यक्तिगत हितों का नुक़सान हो या माल और व्यापार की हानि हो या शारीरिक परिश्रम सहन करना पड़े, हर हाल में वे इस दावती मिशन में पैग़ंबर के साथी बने रहें। इस आयत में 'जिहाद फ़ी सबीलिल्लाह' (ईश्वर की राह में जिहाद) का शब्द मूलतः पैग़ंबर के दावती मिशन के लिए प्रयुक्त हुआ है, न कि जंग के लिए।

क़ुरआन की दूसरे अध्याय में आदेश दिया गया है— "तुम इनकार करने वालों की बात न मानो और इनके साथ क़ुरआन के द्वारा बड़ा जिहाद करो (25:52)।" इस आयत में स्पष्ट रूप से जिहाद से तात्पर्य दावती जिहाद यानी ज्ञान देना है, क्योंकि क़ुरआन के द्वारा जिहाद का कोई दूसरा मतलब नहीं हो सकता। यह शब्द तीसरी जगह क़ुरआन में इस प्रकार आया है— "अगर तुम मेरे मार्ग में जिहाद और मेरी ख़ुशी चाहने के लिए निकले हों (60:1)।" यह आयत मक्का विजय से कुछ पहले अवतरित हुई। मदीना से मक्का की यात्रा जंग के लिए न थी, वह दरअसल एक शांतिपूर्ण मार्च थी, जो हुदैबिया संधि के शांतिपूर्ण नतीजों को हासिल करने के लिए की गई थी। अत: इस अवसर

पर एक मुसलमान की ज़बान से यह शब्द निकले कि आज का दिन लड़ाई का दिन है। यह सुनकर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि नहीं आज का दिन रहमत का दिन है।

चौथी बार क़ुरआन में यह शब्द इस प्रकार आया है— "ईश्वर की राह में जिहाद करो, जैसा कि जिहाद करने का हक़ है (22:78)।" इस आयत में जिहाद से अभिप्राय दावती जिहाद है यानी क़ुरआन का ज्ञान बाँटना। यह हक़ीक़त ऊपर दी गई आयत से बिल्कुल स्पष्ट है।

दुश्मन और हमलावर में अंतर

क़ुरआन में एक और यह आदेश दिया गया है— "अगर एक व्यक्ति बज़ाहिर तुम्हारा दुश्मन हो, तब भी तुम उसके साथ अच्छा व्यवहार करो। यथा सभंव है कि वह किसी दिन तुम्हरा दोस्त बन जाए (41:34)।" दूसरी ओर क़ुरआन में कहा गया है— "जिन लोगों ने तुमसे जंग नहीं की, उनसे तुम्हें भलाई का मामला करना चाहिए, मगर ईश्वर इससे रोकता है कि तुम उन लोगों से अच्छा व्यवहार करो, जो तुम्हारे साथ जंग कर रहे थे।" (60:8)

इन दोनों आयतों का तुलनात्मक अध्ययन बताता है कि क़ुरआन दुश्मन (enemy) और हमलावर (combatant) के बीच अंतर करता है। क़ुरआन का आदेश यह है कि बज़ाहिर अगर कोई व्यक्ति या गिरोह तुम्हारा दुश्मन हो, तब भी तुम्हें उसके साथ अच्छे संबंध रखने चाहिए, ताकि दावत का काम सामान्य शैली में जारी रहे। ज़ाहिरी दुश्मनी को मेल-मिलाप (interaction) में बाधा नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि परस्पर मेल-मिलाप से दावत जारी रहती है और दावत का काम दुश्मन को भी मित्र बनाने की शक्ति रखता है, लेकिन हमलावर या लड़ाकू का मामला इससे भिन्न है यानी यह वे लोग हैं, जो व्यवहारतः और एकपक्षीय रूप से मुसलमानों के ख़िलाफ़ जंग छेड़ दें। ऐसे लोगों के साथ आपात स्थिति या जंग के नीति-नियम के अनुसार मामला किया जाएगा, यहाँ तक कि इनके साथ उस समय तक संबंध-विच्छेद भी किया जा सकता है, जब तक वे जंग से रुक न जाएँ।

यह एक अति महत्त्वपूर्ण अंतर है जिसे व्यावहारिक जीवन में धारण करना आवश्यक है। ईमान वाले अगर इस भेद को न समझें तो वे दुश्मन से भी हमलावर जैसा मामला करने लगेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि इस्लाम की दावती नीतियों को नुक़सान पहुँचेगा और विचारों के आदान-प्रदान का प्रभावशाली काम रुक जाएगा। सही यह है कि जो व्यक्ति या गिरोह वर्तमान में सशस्त्र जंग छेड़ दे, उसके मुक़ाबले में तो कठोर सावधानी का बर्ताव किया जाएगा; यहाँ

तक कि सामान्य संबंध में भी परहेज़ किया जाएगा, क्योंकि यह आशंका है कि इसके द्वारा दूसरा पक्ष ईमान वालों से जंगी भेद मालूम कर ले, मगर जहाँ तक आम इंसान का संबंध है तो प्रत्यक्ष मित्रता या प्रत्यक्ष दुश्मनी का लिहाज़ किए बिना हर एक से एक समान संबंध क़ायम रखा जाएगा, ताकि इस्लाम का दावती काम बिना किसी रुकावट के जारी रहे। वह किसी हाल में रुकने न पाए।

इस्लाम की यह स्पष्ट शिक्षा है कि जंग के समय योद्धा और सामान्य लोगों के बीच अंतर किया जाए यानी योद्धा पर वार किया जाए, आम लोगों पर बिल्कुल भी वार न किया जाए। ऐसी स्थिति में एक सवाल यह पैदा होता है कि यह नियम पुराने ज़माने की जंग में संभव था, लेकिन मौजूदा ज़माने में जंग गोला-बारूद से लड़ी जाती है और गोला-बारूद की जंग में योद्धा और आम लोगों का भेद संभव नहीं।

इसका जवाब यह है कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए कि जंग करने के फलस्वरूप आम लोग भी मारे जाएँगे तो जंग ही न की जाएगी। जंग न करना और जंग करके आम लोगों को मार डालना— दोनों में पहली परिस्थिति छोटी बुराई (lesser evil) की है और दूसरी परिस्थिति बड़ी बुराई (greater evil) की और जब चुनाव छोटी बुराई और बड़ी बुराई के बीच हो तो निश्चित रूप से छोटी बुराई को लिया जाएगा और बड़ी बुराई को छोड़ दिया जाएगा। यही समझदारी कि माँग भी है और यही शरीअत की माँग भी।

मौजूदा ज़माने में अगर एक तरफ़ प्रतिकूल परिस्थिति पैदा हुई है कि जंग छिड़ने के फलस्वरूप आम लोगों का मारे जाने से बचना मुमकिन नहीं तो इसी के साथ वर्तमान प्रगतियों के नतीजे में एक अनुकूल परिस्थिति भी बहुत बड़े पैमाने पर पैदा हुई है, वह नए ज़माने की निर्माणकारी संभावनाएँ हैं।

यह नवीन निर्माणकारी संभावनाएँ इतनी ज़्यादा हैं कि जंग में जीतना या हारना दोनों अब दूसरे दर्जे (secondary) की हैसियत धारण कर चुके हैं। एक गिरोह जंग जीतकर भी तबाही का शिकार हो जाता है और दूसरा गिरोह जंग हारकर भी ऐसे शांतिपूर्ण माध्यमों को पा सकता है जिनका प्रयोग करके वह किसी लड़ाई के बिना उच्च सफलता प्राप्त कर ले।

इस मामले का एक उदाहरण जापान के नवीन इतिहास में मिलता है। जापान को दूसरे विश्वयुद्ध में बहुत बुरी हार (humiliating defeat) से दो-चार होना पड़ा, लेकिन उसने अपने नव-निर्माण के लिए दोबारा जंगी योजना नहीं

बनाई, बल्कि व्यवहारतः वर्चस्व को स्वीकार करते हुए शांतिपूर्ण दायरे में नव-निर्माण की जद्दोजहद शुरू कर दी। यह योजना इतनी सफल हुई कि 25 वर्ष में जापान का इतिहास बदल गया। जापान की यह सफलता आधुनिक माध्यमों के आधार पर संभव हो सकी।

इस मामले का विपरीत उदाहरण फ़िलिस्तीन में मिलता है। 1948 के बाद फ़िलिस्तीनी मुसलमानों के लिए जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसे उन्होंने इज़राइल के ख़िलाफ़ हिंसात्मक कार्यवाही के लिए उचित समझ लिया, मगर नतीजा क्या निकला? 1948 में फ़िलिस्तीनी मुसलमानों को फ़िलिस्तीन का आधे से ज़्यादा भाग मिला हुआ था जिसमें यरुशलम भी पूरा-का-पूरा सम्मिलित था, मगर हिंसावादी विकल्प लेने का नतीजा यह हुआ कि आज फ़िलिस्तीनियों के पास कुछ भी नहीं। समान अवधि में फ़िलिस्तीनियों को हिंसावादी काम के नतीजे में तबाही मिली और ठीक उसी अवधि में जापान का यह हाल हुआ कि वह आर्थिक आधार से विश्व की महाशक्ति बन गया।

शांति का धर्म

शांतिवाद (pacifism) एक स्थायी विषय है जिस पर सदियों से चिंतन-मनन जारी है और इसके बारे में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है और लिख रहे हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (1984) में शांतिवाद पर 8 पृष्ठों का एक विस्तृत लेख है। यह लेख जर्मन प्रोफ़ेसर मोहलमन (Wilhelm Emil Muhlmann) का लिखा हुआ है, जो इस विषय पर एक्सपर्ट की हैसियत रखते हैं। शांतिवाद के विषय पर अंग्रेज़ी में छपी हुई कुछ किताबों के नाम यह हैं—

(1) E.L. Allen, E.L. Pollard, and G.A. Sutherland, The Case for Pacifism and Conscientious objection, 1946.

(2) Hannah Arendt on violence, 1970.

(3) Raymond Aron, Peace and War, 1962.

(4) C.J. Cadoux Christian Pacifism Re-examined, 1940.

(5) Ted Dunn, Alternatives to war and violence— A search. 1963.

(6) Carl Joachim Friedrich, Inevitable Peace, 1948.

(7) Richard Gregg, the Power of Non-violence, 1966.

(8) Aldous Huxley, An Encyclopedia for Pacifism, 1937.

(9) Ralph T. Templin Democracy and Non-violence, 1965.

(10) Quincy Wright, A Study of war, 1965.

शांतिप्रियता या मज़हब-ए-अमन (pacifism) शताब्दियों पुराना एक आंदोलन है। इसका उद्देश्य यह है कि दुनिया से जंग की समाप्ति कर दी जाए, ताकि इंसानी समाज में स्थायी रूप से शांति की स्थिति स्थापित हो। वह आंदोलन जिनको अहिंसा का आंदोलन (Non-violent movement) कहा जाता है, उनका उद्देश्य आंशिक या बुनियादी रूप से यही रहा है।

शांतिवाद का यह आंदोलन इतिहास के लगभग समस्त युगों में पाया जाता रहा है, कभी धार्मिक आधार पर तो कभी दर्शनशास्त्रीय (philosophical) आधार पर और कभी नैतिकता (morality) के आधार पर। शांतिवाद के मानने वालों में एक गिरोह वह है, जो शांति और केवल शांति चाहता है। उसके निकट शांति की परिभाषा जंग की अनुपस्थिति (absence of war) है। दूसरा वर्ग वह है, जो शांति के साथ न्याय को ज़रूरी मानता है। वह शांति के साथ न्याय (peace with justice) की वक़ालत करता है। इन लोगों का कहना है कि न्याय के बिना केवल शांति एक नकारात्मक शांति (negative peace) है और न्याय सहित शांति सकारात्मक शांति (Positive Peace) है।

गांधी जी अहिंसा के ध्वजवाहक थे, मगर कुछ विद्वानों का कहना है कि गांधी जी की अहिंसा (non-violence) सीमित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए थी, इसलिए वह 15 अगस्त, 1947 को अचानक समाप्त हो गई। उनके आंदोलन का मूल उद्देश्य ब्रिटिश राज को समाप्त करना था, न कि वास्तव में देश में एक शांतिपूर्ण समाज क़ायम करना—

Gandhi’s policy of non-violence was not to establish peace in the society, but to stage a coup in order to oust the British rule. He was successful, but not in the first sense rather in the second sense.

शांति उस कर्म के फलस्वरूप मिलती है जिसका चुनाव इंसान अपनी आज़ादी के तहत करता है, न कि किसी मजबूरी के तहत।

शांति इंसानी स्वेच्छा (free will) का एक अमल है, न कि मजबूरी का अमल। मजबूरन शांति दमन है, वह अमन नहीं। अमन वह है, जो वैचारिक क्रांति के द्वारा आए। पुराने ज़माने में रोमियो ने सीमित रूप से अपने राज्य में अमन स्थापित किया था, जिसे ‘रूमी अमन’ (Pax Romana) कहते थे। इसी प्रकार बीसवीं सदी में सोवियत यूनियन में प्रत्यक्ष में अमन पाया जाता था, जिसे ‘कम्युनिस्ट अमन’ का नाम दिया गया, मगर यह दोनों अमन बलपूर्वक क़ायम किए गए थे और ज़बरदस्ती का अमन कोई संतोषजनक अमन नहीं।

कुछ चिंतक अमन के लिए विश्व राज्य (world state) का सपना देखते रहे हैं, मगर इतिहास बताता है कि विश्व राज्य की स्थापना कभी संभव न हो सकी। हक़ीक़त यह है कि शांतिपूर्ण समाज बौद्धिक प्रशिक्षण और वैचारिक

क्रांति के द्वारा अस्तित्व में लाया जा सकता है, न कि किसी वैश्विक साम्राज्य के केंद्रीय नियंत्रण के द्वारा। पश्चिम के पुनर्जागरण के बाद बहुत से पश्चिमी विचारकों ने जंग के बिना दुनिया का सपना देखा, मगर यह सपना पूरा न हो सका।

'डच' दार्शनिक और मानवतावादी ऐरस्मस (Erasmus) 1466 ई० में रोटरडम में पैदा हुआ और 1536 ई० में उसका देहांत हुआ। उसकी शिक्षा यह थी कि मानवता का सबसे ऊँचा आदर्श अमन और इंसानी एकता है—

He taught that the highest ideal of mankind would be peace and concord. (13:849)

इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यावहारिक ऐतबार से अमन समस्त वांछित चीज़ों में सबसे ज़्यादा वांछनीय है। इसलिए किसी भी सकारात्मक या रचनात्मक काम के लिए इंसानी आबादी में अमन का वातावरण होना आवश्यक है। अमन के बिना किसी प्रकार की कोई प्रगति नहीं हो सकती।

सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि शांति की स्थापना में धर्म का ज़्यादा महत्त्व नहीं। उनके निकट इतिहास यह बताता है कि धर्म के द्वारा शांति कभी स्थापित नहीं हो सकी।

Efforts to confirm a lasting peace through religious sanctions have had little effect. (13:846)

मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं। वास्तविकता यह है कि यह दृष्टिकोण एक अधूरे अध्ययन के आधार पर स्थापित किया गया है। यह लोग जब शांति की स्थापना के सवाल पर ग़ौर करते हैं तो वे इस्लाम को हटाकर दूसरे धर्मों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाल लेते हैं, क्योंकि ग़लत रूप से यह बात प्रसिद्ध हो गई है कि इस्लाम हिंसा का धर्म है। हालाँकि मूल बात यह है कि इस्लाम पूरे अर्थ में शांति का धर्म है। इस्लाम ने पहली बार व्यावहारिक रूप से शांति की व्यवस्था स्थापित की और मानवता के लिए शांतिपूर्ण जीवन के बंद रास्ते खोल दिए।

यहाँ इस्लाम से मेरा तात्पर्य इस्लाम का पहला दौर है, जो इस्लाम को समझने के लिए मानो एक प्रतिनिधि की हैसियत रखता है। इस ज़माने में इस्लाम के प्रभाव में दो बड़ी घटनाएँ हुईं—

1. अमन के रास्ते की रुकावट को हमेशा के लिए ख़त्म कर देना।
2. सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से अमन का एक पूर्ण मॉडल स्थापित करना।

यह सही है कि इस्लाम के पहले दौर में कुछ लड़ाइयाँ नज़र आती हैं, मगर इन लड़ाइयों का उद्देश्य ठीक वही था जिसे विद्वान इन शब्दों में बयान करते हैं—

आख़िरी जंग तमाम जंगों को ख़त्म करने के लिए।

Last war to end all wars. (13:851)

पैग़ंबर-ए-इस्लाम हज़रत मुहम्मद 570 ई० में अरब के मक्का शहर में पैदा हुए। 632 ई० में मदीना में आपका देहांत हुआ। जैसा कि मालूम है, उस युग में दुनिया में साम्राज्यवाद की व्यवस्था स्थापित थी। यह व्यवस्था हज़ारों वर्ष से चली आ रही थी। इस राजनीतिक व्यवस्था ने इंसानी आज़ादी का ख़ात्मा कर दिया था। राजा की मर्ज़ी अकेले निर्णायक शक्ति की हैसियत रखती थी।

आज़ादी और शांति की स्थापना के लिए इस बलात व्यवस्था (forced regime) का अंत आवश्यक था। पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके साथियों ने सीमित समय के लिए शक्ति का प्रयोग किया, ताकि इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए। यह व्यवस्था पहले अरब में समाप्त की गई, उसके बाद उस युग की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी व्यवस्थाएँ रोमन साम्राज्य (Roman Empire) और सासानी साम्राज्य (Persian Empire) से उनका टकराव हुआ। इस टकराव में पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके साथियों को सफलता प्राप्त हुई और दोनों साम्राज्य सदैव के लिए समाप्त हो गए।

फ़्रांस के इतिहासकार हेनरी पेरीन (Henry Perrine) ने इस प्राचीन व्यवस्था को पूर्ण साम्राज्यवाद (absolute imperialism) का नाम दिया है। उसने लिखा है कि मुसलमान अगर इस पूर्ण साम्राज्यवाद को न तोड़ते तो दुनिया में कभी आज़ादी और अमन का दौर न आता।

जिहाद क्या है?

जिहाद क्या है? इसे समझने के लिए सबसे पहले यह जानना चाहिए कि मौजूदा ज़माने में मुसलमान जिहाद के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं, वह जिहाद नहीं है। यह सब क़ौमी भावनाओं के अंतर्गत छेड़ी हुई लड़ाइयाँ हैं, जिन्हें ग़लत तरीक़े से जिहाद का नाम दिया गया है।

जिहाद मूलतः शांतिपूर्ण संघर्ष का नाम है, यह जंग के अर्थ के समान नहीं। कभी विस्तृत अर्थों में जिहाद जंग के भावार्थ में बोला जाता है, मगर शाब्दिक

भावार्थ के ऐतबार से जिहाद और जंग दोनों समानार्थ शब्द नहीं। यहाँ इस सिलसिले में क़ुरआन व हदीस से 'जिहाद' के कुछ प्रयोग दर्ज किए जाते हैं—

1. क़ुरआन में कहा गया है कि जिन लोगों ने जिहाद किया हमारी ख़ातिर तो हम उन्हें अपनी राहें दिखाएँगे (29:69)। इस आयत में सत्य की खोज को जिहाद कहा गया है अर्थात ईश्वर को पाने के लिए प्रयास करना, ईश्वर का बोध (Realization of God) प्राप्त करने के लिए प्रयास करना, ईश्वर की निकटता हासिल करने के लिए प्रयास करना। ज़ाहिर है कि इस जिहाद का जंग या टकराव से कोई संबंध नहीं।

2. इसी प्रकार क़ुरआन में कहा गया है कि वह लोग जिन्होंने अपने माल से जिहाद किया (49:15) यानी वह लोग जिन्होंने अपने माल को ईश्वर के रास्ते में ख़र्च किया। इस आयत के अनुसार, अपने माल को ईश्वर के रास्ते में ख़र्च करना भी एक जिहाद है।

3. इसी प्रकार क़ुरआन में कहा गया है कि ग़ैर-मुस्लिमों के साथ क़ुरआन के द्वारा बड़ा जिहाद करो। दूसरे शब्दों में यह कि क़ुरआन की शिक्षाओं को फैलाने के लिए शांतिपूर्ण संघर्ष करो।

4. इस प्रकार पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि मुजाहिद वह है, जो ईश्वर के आज्ञापालन में अपने नफ़्स से जिहाद करे (मुसनद अहमद, हदीस नं० 23,958)। इससे मालूम हुआ कि मन के प्रलोभनों से लड़कर अपने आपको सच्चाई के रास्ते पर क़ायम रखना भी एक जिहाद है। ज़ाहिर है यह लड़ाई आंतरिक रूप से मानसिकता के मैदान में होती है, न कि बाहर किसी जंग के मैदान में।

5. एक हदीस के अनुसार, पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया कि हज जिहाद है। (इब्ने माजह, किताबुल मनासिक)। इससे मालूम हुआ कि हज का काम एक मुजाहिदाना काम है। हज को ठीक तरीक़े से करने के लिए आदमी को कड़ा संघर्ष करना पड़ता है।

6. एक हदीस के अनुसार, पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने माता-पिता की सेवा के बारे में कहा कि तुम अपने माता-पिता में जिहाद करो (बुख़ारी, किताबुल जिहाद)। इससे मालूम हुआ कि माता-पिता की सेवा करना जिहाद का एक काम है।

इस प्रकार की विभिन्न आयतें और हदीसें हैं, जिनसे मालूम होता है कि जिहाद का काम मूलतः एक शांतिपूर्ण काम है। वह किसी वांछित ईश्वरीय काम

में शांतिपूर्ण दायरे के अंदर रहकर संघर्ष करना है। जिहाद शब्द का सही अनुवाद शांतिपूर्ण संघर्ष (peaceful struggle) है।

मुश्किल में आसानी

क़ुरआन में बताया गया है कि निःसंदेह मुश्किल के साथ आसानी है (94:5)। इसका मतलब यह है कि वर्तमान संसार प्रकृति के जिस क़ानून पर चल रहा है, उसका एक पक्ष यह है कि यहाँ हमेशा मुश्किल के साथ आसानी मौजूद रहती है। यहाँ हमेशा रुकावट के साथ निकास का रास्ता बाक़ी रहे।

इससे मालूम होता है कि वर्तमान संसार में शांति की हालत को निरंतर स्थापित रखने का राज़ क्या है। वह है रुकावटों से टकराए बिना अपना रास्ता निकालना। इंसानी समाज में शांति की समाप्ति का कारण हमेशा यह होता है कि व्यक्ति या संप्रदायों के रास्ते में जब भी कोई बाधा आती है तो वे चाहने लगते हैं कि बाधा को हटाकर अपने लिए समतल रास्ता बनाएँ। यही स्वभाव शांति को तोड़ने का सबसे बड़ा कारण है। इसलिए लोगों को यह शिक्षा दी गई है कि कोई कठिन काम पेश आ जाए तो तुम उसे बाधा न समझो, बल्कि यह विश्वास रखो कि जहाँ मुश्किल है, वहीं आसानी भी है। जहाँ यात्रा प्रत्यक्ष रूप से रुकी हुई दिखाई दे, वहीं से नई यात्रा का आरंभ भी हो सकता है।

आप किसी पहाड़ के आँचल में खड़े हों तो आप देखेंगे कि पहाड़ की चोटी से झरने जारी होकर तेज़ी से मैदान की तरफ़ बह रहे हैं। इन झरनों के रास्ते में बार-बार पत्थर आते हैं, जो बज़ाहिर झरने का रास्ता रोकने वाले हैं, मगर कभी ऐसा नहीं होता कि कोई पत्थर किसी झरने का रास्ता रोक दे।

इसका साधारण भेद एक शब्द में अनदेखी करना है अर्थात टकराव से बचकर अपना रास्ता निकालना। अतः जब भी झरने के सामने कोई पत्थर आता है तो एक क्षण की देरी के बिना झरना यह करता है कि दाएँ या बाएँ मुड़कर अपना रास्ता निकाल लेता है और आगे की ओर बढ़ जाता है। वह रास्ते के पत्थर को हटाने के बजाय स्वयं अपने आपको हटा लेता है। इसी प्रकार किसी ठहराव के बिना झरने की यात्रा बराबर जारी रहती है।

यह प्रकृति का पाठ है। इस प्रकार प्रकृति कर्म की भाषा में इंसान को यह संदेश दे रही है कि कठिनाइयों से टकराने के बजाय कठिनाइयों को नज़रअंदाज़

करो। रुकावटों को तोड़ने के बजाय रुकावटों से हटकर अपना काम जारी रखो। काम के इस तरीक़े को एक शब्द में सकारात्मक यथापूर्व स्थितिवाद (positive status quoism) कहा जा सकता है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम के जीवन-चरित्र का अध्ययन बताता है कि आपने हमेशा इसी पॉलिसी को अपनाया। इसी का यह नतीजा था कि आप एक ऐसी क्रांति लाने में सफल हुए जिसमें इतने कम लोग मारे गए। इस क्रांति को निःसंदेह रक्तविहीन क्रांति (bloodless revolution) कहा जा सकता है।

पॉज़ीटिव स्टेटस कोइज़्म की यह पॉलिसी वर्तमान दुनिया में शांति की सबसे बड़ी ज़मानत है। अगर यह कहा जाए तो ग़लत न होगा कि जंग का सबसे बड़ा कारक यथापूर्व स्थिति (status quo) को तोड़ने का प्रयास है और शांति की स्थापना का सबसे बड़ा राज़ यह है कि यथापूर्व स्थिति को मानकर शेष दायरे में अपना निर्माण किया जाए।

इस्लाम में जिहाद की कल्पना

जिहाद एक अरबी शब्द है। इसका अर्थ साधारण रूप से प्रयास करना है। अपने मूल भावार्थ के ऐतबार से वह शांतिपूर्ण संघर्ष के अर्थ के समान है। विस्तृत भावार्थ के ऐतबार से जिहाद को जंग के मतलब में भी इस्तेमाल किया जाता है, मगर अरबी में जंग के लिए मूल शब्द 'क़िताल'(रक्तपात) है, न कि जिहाद।

वर्तमान समय में जिहाद का शब्द ज़्यादातर जंग और हिंसा के मतलब में बोला जाता है। मीडिया के द्वारा ज़्यादा प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि इस्लाम को हिंसा का धर्म समझा जाने लगा। जैसे लंदन के दैनिक समाचार पत्र 'द टाइम्स'(The Times) में एक लेख छपा है, जिसका शीर्षक है—

"एक धर्म जो हिंसा की अनुमति देता है"

"A religion that sanctions violence"

यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि क़ुरआन में पैग़ंबर-ए-इस्लाम को 'रहमतुल लिल आलमीन' (सारी दुनिया के लिए रहमत) की हैसियत से परिचित किया गया है। इसका मतलब यह है कि आप जो दीन (मार्ग) लाए, वह संसार के लिए दीन-ए-रहमत था। ऐसे दीन की छवि हिंसावादी धर्म की कैसे बन गई। उत्तर यह है कि दो प्रकार की भ्रांतियाँ इस वास्तविकता के ख़िलाफ़ छवि की

ज़िम्मेदार हैं। एक, सिद्धांत और व्यवहार में अंतर न करना और दूसरा, अपवाद को सामान्य का दर्जा देना।

1. यह एक स्वीकार्य हक़ीक़त है कि सिद्धांत की रोशनी में काम को परखा जाता है, न कि काम से सिद्धांत को जाँचा जाए। जैसे संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की रोशनी में इसके सदस्य राष्ट्रों के व्यवहार को जाँचा जाएगा, न कि सदस्य राष्ट्र के व्यवहार से चार्टर का मतलब निकाला जाए। इसी प्रकार इस मामले के ज्ञानात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि इस्लाम और मुसलमानों को एक-दूसरे से अलग करके देखा जाए।

जैसे मुसलमानों की एक तादाद उन क़ब्रों को पूजती है जिसमें किसी बुज़ुर्ग को दफ़न किया गया था। इसे देखकर बहुत से मूर्तिपूजक लोग कहते हैं कि हमारे बहुदेववादी धर्म और इस्लाम के एकेश्वरवादी धर्म में कोई अंतर नहीं। अंतर अगर है तो केवल यह कि हिंदू धर्म में खड़ा करके पूजा जाता है और इस्लाम धर्म में लिटाकर पूजा जाता है, मगर यह तुलना दुरुस्त नहीं, क्योंकि जो मुसलमान क़ब्रों को पूजते हैं, वे उनके एक अवहेलनात्मक कर्म हैं। इसका इस्लाम की मूल शिक्षा से कोई संबंध नहीं।

यही मामला जिहाद का है। जिहाद निःसंदेह एक शांतिपूर्ण कार्यवाही है। अगर महमूद ग़ज़नवी और औरंगज़ेब की हिंसात्मक कार्यवाहियों को इस्लामी जिहाद बताया जाए या वर्तमान समय में जो मुसलमान विभिन्न स्थानों पर इस्लाम के नाम पर लड़ाई छेड़े हुए हैं, इन्हें जिहाद कहा जाए तो यह राय क़ायम करने का सही तरीक़ा न होगा। सही ज्ञानात्मक तरीक़ा यह है कि क़ुरआन व सुन्नत की प्रमाणित शिक्षाओं को इस्लामी सिद्धांत का स्रोत बनाया जाए और मुसलमानों की कार्यवाहियों को इसकी रोशनी में जाँचा जाए। मुसलमानों की जो कार्यवाही इस्लाम के जिहाद के सिद्धांत पर पूरी न उतरे, उसे रद्द कर दिया जाए।

2. ग़लतफ़हमी की दूसरी वजह कुरआन की वह शिक्षाएँ हैं, जिन्हें अपवाद का दर्जा देना चाहिए था, मगर उन्हें सामान्य का दर्जा दे दिया गया। क़ुरआन में लगभग छह हज़ार आयतें हैं। इनमें मुश्किल से 40 आयतें ऐसी हैं, जो जिहाद का संबंध क़िताल (जंग) से रखती हैं यानी एक प्रतिशत से भी कम आयतें, ज़्यादा स्पष्ट रूप से कहा जाए तो 0.6 प्रतिशत।

असल यह है कि क़ुरआन 23 वर्ष के अंतराल में थोड़ा-थोड़ा करके उतरा। जैसे हालात पैदा होते थे, उसी के अनुसार ईश्वर की ओर से आदेश अवतरित

कर दिए जाते थे। इन 23 वर्ष को दो भिन्न भागो में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग 20 वर्ष का और बाद का दूसरा भाग 3 वर्ष का। 20 वर्ष के भाग में क़ुरआन में वह आदेश उतरे जो ईमान, निःस्वार्थता, उपासना, नैतिकता, न्याय, सुधार से संबंध रखते थे और 3 वर्ष में जंग के आदेश उतरे, जबकि पैग़ंबर-ए-इस्लाम के विरोधियों ने एकपक्षीय रूप से हमला करके इस्लाम के मानने वालों के लिए सुरक्षा की समस्या उत्पन्न कर दी थी मानो क़ुरआन में जिहाद काअभिप्राय क़िताल की आयतों की हैसियत के अपवाद से है, जबकि दूसरी आयतों की हैसियत सामान्य की है।

अपवाद और सामान्य का अंतर हर जगह पाया जाता है। जैसे गीता हिंदुओं की एक पवित्र पुस्तक है। इसमें ज्ञान की बहुत-सी बातें हैं, मगर इसी के साथ गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

"हे अर्जुन ! युद्ध के लिए तैयार रहो और युद्ध करो।" (3:11)

पूरी गीता को पढ़ा जाए तो मालूम होगा कि जंग की बात इसमें अपवाद की हैसियत रखती है। अगर केवल इसी अपवादिक हिस्से को लिया जाए और इसे जनरलाइज़ करके इसी से गीता की सामूहिक शिक्षा निकाली जाए तो यह एक अज्ञानात्मक तरीक़ा होगा और गीता को सही रूप से समझने में बाधा बन जाएगा।

इसी प्रकार बाइबल में वर्णन है कि ईसा मसीह ने अपने शागिर्दों से कहा—

Do not think that I've to come bring peace on earth, I did not come to bring peace but a sword. (Matthew, 10:34)

मसीह के पूरे कथन को देखा जाए तो मालूम होगा कि उनका यह कथन अपवादिक कथन है, यह उनकी सामान्य शिक्षा नहीं। ऐसी स्थिति में ईसा मसीह के संदेश को नियुक्त करने के लिए उनके सामान्य कथनों को देखा जाएगा। कुछ अपवादिक कथनों को लेकर मसीह की सामान्य छवि बनाना उचित नहीं।

यह किसी पुस्तक के अध्ययन का ज्ञानात्मक तरीक़ा है। यही तरीक़ा गीता और बाइबल के अध्ययन के लिए भी उचित है और यही तरीक़ा कुरआन के अध्ययन के लिए भी सही है।

अब क़ुरआन और हदीस की रोशनी में जिहाद का मतलब नियुक्त कीजिए। क़ुरआन की एक आयत यह है— "जो लोग ईश्वर की राह में जिहाद करेंगे, ईश्वर उन्हें अपना रास्ता दिखाएगा (29:69)।" इस आयत में जिहाद से अभिप्राय वह

प्रयास है, जो सत्य की खोज में या ईश्वर का बोध प्राप्त करने में किया जाए। इस आयत में एक ऐसे काम को जिहाद कहा गया है, जो पूर्ण रूप से एक बौद्धिक क्रियाकलाप (intellectual pursuit) की हैसियत रखता है।

क्या इस्लाम हिंसा की अनुमति देता है

क्या इस्लाम हिंसा की अनुमति देता है? इसका उत्तर यह है— 'नहीं।' यह सही है कि इस्लाम में सुरक्षा के लिए लड़ने की अनुमति है, जैसा कि हर धार्मिक और सेकुलर व्यवस्था में इसकी अनुमति है, मगर हिंसा मेरे निकट इससे अलग एक और काम का नाम है। इस पक्ष से इस्लाम में बिल्कुल भी हिंसा की अनुमति नहीं। हिंसा का शब्द सामान्य रूप से जिस अर्थ में बोला जाता है, वह यह है कि अपने दुश्मन को समाप्त करने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जाए और इस प्रकार के विचार की इस्लाम में कोई जगह नहीं। कोई व्यक्ति किसी को अपना दुश्मन समझे तो इस आधार पर उसके लिए जायज़ नहीं हो जाता कि वह उसे समाप्त करने के नाम पर उसके ख़िलाफ़ हिंसा करने लगे।

क़ुरआन के अध्ययन से मालूम होता है कि इस्लाम में दुश्मन और आक्रमणकारी के बीच भेद किया गया है। अगर कोई गिरोह किसी दूसरे गिरोह के ख़िलाफ़ एकपक्षीय रूप से हिंसक आक्रमण करे तो क़ुरआन के अनुसार उसे हक़ है कि वह ऐसे आक्रमणकारी के ख़िलाफ़ रक्षात्मक कार्यवाही करे और आवश्यकतानुसार जवाबी हिंसा का प्रयोग करे। क़ुरआन में कहा गया है— "लड़ने की इजाज़त दे दी गई उन लोगों को, जिनके ख़िलाफ़ लड़ाई की जा रही है।" (22:39)

मगर दुश्मन का मामला इससे बिल्कुल अलग है। दुश्मन के मुक़ाबले में इस्लाम की शिक्षा ठीक वही है, जो मसीह की ज़ुबान से बाइबल में इस प्रकार आई है कि तुम अपने दुश्मन से मुहब्बत करो।

Love your enemy. (Luke, 6:31)

क़ुरआन में दुश्मनी का जवाब दुश्मनी से देने को मना किया गया है। अतः क़ुरआन में आदेश हुआ है— "भलाई और बुराई दोनों बराबर नहीं। तुम जवाब में वह कहो, जो इससे बेहतर हो। फिर तुम देखोगे कि तुममें और जिसमें दुश्मनी थी, वह ऐसा हो गया, जैसे कोई क़रीबी दोस्त।" (41:34)

इससे मालूम हुआ कि इस्लाम की शिक्षा के अनुसार हर इंसान वास्तव में 'मिस्टर नेचर' है, वह केवल वक़्ती तौर पर कभी 'मिस्टर दुश्मन' बन जाता है। अगर उसके साथ एकतरफ़ा अच्छा व्यवहार किया जाए तो वह अपने प्राकृतिक स्वभाव की ओर लौट आएगा और अतीत का दुश्मन वर्तमान का दोस्त बन जाएगा।

अब ग़ौर कीजिए कि कोई व्यक्ति हिंसा क्यों करता है? इसका एक कारण सैद्धांतिक अतिवाद (ideological extremism) है। जहाँ अतिवाद न हो, वहाँ हिंसा भी नहीं होगी। अतः इस्लाम में अतिवाद को मना करके इस प्रकार की हिंसा की जड़ काट दी गई। इस्लाम ने कहा कि दीन में किसी प्रकार का 'ग़ुलू' (अतिवाद) नहीं। (निसाई, इब्ने माजह, मुसनद अहमद)

There is no extremism in the religion of Islam.

इसी प्रकार हिंसा का एक कारण ग़ुस्सा है और इस्लाम में ग़ुस्से को एक बहुत बड़ी नैतिक बुराई क़रार दिया गया है। क़ुरआन में मोमिन की परिभाषा यह की गई है— "जब उन्हें ग़ुस्सा आता है तो वे माफ़ कर देते हैं" (शूरा, 42:37) और यह एक स्पष्ट हक़ीक़त है कि अगर इस्लाम की शिक्षा के अनुसार लोग ऐसा करें कि जब उन्हें किसी पर ग़ुस्सा आए तो वे उसे माफ़ कर दें, ऐसी स्थिति में हिंसा की नौबत ही न आएगी।

हिंसा को इस्तेमाल करने का एक और कारण यह होता है कि आदमी यह समझ लेता है कि हिंसा एक शक्तिशाली माध्यम है। इस शक्तिशाली माध्यम को प्रयोग करके वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है, मगर क़ुरआन में इस विचारधारा को ख़त्म करने की कोशिश की गई है। क़ुरआन के अनुसार हिंसा एक ऐसी नकारात्मक प्रतिक्रिया है, जिसका कोई परिणाम नहीं। वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति का कोई प्रभावी और लाभकारी माध्यम नहीं।

क़ुरआन की शिक्षा यह है कि किसी से तुम्हारा विवाद हो तो विवाद को टकराव तक न जाने दो, जो अंततः हिंसा बन जाता है; बल्कि विवाद को युक्तिपूर्ण तरीक़ा अपनाते हुए पहले ही चरण में समाप्त कर दो। अतः क़ुरआन में कहा गया है कि "सुलह बेहतर है" (4:128)।

Reconciliation is the best.

इससे मालूम हुआ कि इस्लाम की शिक्षा यह है कि जब किसी से किसी कारण विवाद की स्थिति पैदा हो जाए तो सुलह संबधी कार्य-शैली

(conciliatory course of action) धारण करो, न कि टकराव वाली कार्य-शैली (confrontational course of action)। ज़ाहिर है कि अगर इस्लाम की इस शिक्षा को अपनाया जाए तो विवाद पैदा होने के बावजूद हिंसा की स्थिति ही पैदा न होगी।

इस मामले को समझने के लिए पैग़ंबर-ए-इस्लाम का एक कथन बहुत ज़्यादा सहायक हो सकता है। वह कथन यह है— "ईश्वर नरमी पर वह चीज़ देता है, जो वह सख़्ती पर नहीं देता।" (सही मुस्लिम)

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के इस कथन में प्रकृति की व्यवस्था को बताया गया है। वर्तमान संसार में ईश्वर ने प्रकृति की जो व्यवस्था की है, वह ऐसे नियमों पर आधारित है कि यहाँ किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शांतिपूर्ण विधि ज़्यादा करामद और परिणामजनक है। इसके मुक़ाबले में हिंसात्मक विधि विनाश तो कर सकती है, मगर वह किसी सकारात्मक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए परिणामजनक नहीं।

यहाँ यह वृद्धि करना आवश्यक है कि इस्लाम और मुसलमान दोनों एक चीज़ नहीं। इस्लाम एक विचारधारा (ideology) का नाम है और मुसलमान उस गिरोह का नाम है, जो यह दावा करते हैं कि उन्होंने इस्लाम को अपने मज़हब के रूप में धारण किया। ऐसी हालत में मुसलमानों की कार्यवाही को इस्लाम की शिक्षा से जाँचा जाएगा, न कि मुसलमान जो कुछ करें, उसे इस्लाम समझ लिया जाए।

कोई मुसलमान या मुसलमानों का कोई दल अगर हिंसा करे तो यह उसका अपनी निजी कर्म है। ऐसे लोगों के बारे में क़ुरआन की ज़ुबान में कहा जाएगा— "हालाँकि वे इस्लाम का दावा करते हैं, मगर उन्होंने इस्लाम को दिल से स्वीकार नहीं किया।" (49:14)

इस्लाम और आतंकवाद

अगर कोई व्यक्ति ईसाई आतंकवाद की टर्म इस्तेमाल करे तो कहने वाला कहेगा कि तुम प्रतिकूल टर्म (contradictory term) इस्तेमाल कर रहे हो। ईसाई धर्म का कोई संबंध आतंकवाद से नहीं। अतएव मसीह ने कहा कि तुम अपने दुश्मन से मुहब्बत करो (love your enemy)। ईसाई धर्म की

शिक्षाएँ प्रेम पर आधारित हैं। ऐसी हालत में ईसाई आतंकवाद का कोई मतलब नहीं, मगर यह आधी सच्चाई है। यह सही है कि मसीह ने कहा कि तुम अपने दुश्मन से मुहब्बत करो, मगर इसी के साथ बाइबल (न्यू टेस्टामेंट) के वर्णन के अनुसार, मसीह ने यह भी कहा कि यह न समझो कि मैं सुलह करवाने आया हूँ, बल्कि मैं जंग करवाने आया हूँ।

Do not think that I've come to bring peace on earth.
I did not come to bring peace but a sword. (10:34)

फिर क्या कारण है कि मसीह के इस स्पष्ट कथन के बावजूद कोई व्यक्ति ईसाई लोगों पर आतंकवाद का आरोप नहीं लगाता। इसका कारण यह नहीं है कि ईसाई लोग लड़ाई नहीं करते। इसका साधारण-सा कारण यह है कि वे अपनी लड़ाई को राष्ट्रहित के नाम पर चलाते हैं, न कि मसीही मज़हब के नाम पर। जैसे हिटलर एक ईसाई था। उसने दूसरा विश्वयुद्ध छेड़ा, मगर उसने अपने इस युद्ध को ईसाई मज़हब के नाम पर नहीं लड़ा, बल्कि जर्मन राष्ट्रवाद के नाम पर लड़ा। इसी प्रकार अमेरिका ने वियतनाम में 10 वर्ष से ज़्यादा समय तक जंग की, मगर इसमें भी उसने ऐसा नहीं किया कि वह अपनी इस जंग को 'क्रिश्चियन वार' कहे। इसके विपरीत उसने यह कहा कि वह इस जंग को अमेरिका के हित के लिए लड़ रहा है।

कुछ लोग यह शिकायत करते हैं कि मीडिया इस्लाम को आतंकवाद का नाम देकर इस्लाम को बदनाम करना चाहता है, मगर मैं कहूँगा कि इस मामले में मीडिया का दोष नहीं, क्योंकि मुसलमान स्वयं इस्लाम के नाम पर जगह-जगह हिंसा फैलाए हुए हैं, जिसे वे ख़ुद जिहाद का नाम देते हैं। ऐसी हालत में मीडिया की भूमिका इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि वह मुसलमानों की कथनी और करनी को उनके अपने दावे के अनुसार रिपोर्ट करता है। मुसलमान अगर अपनी जंग को अपनी कम्युनिटी के इंटरेस्ट के नाम पर लड़ी जाने वाली जंग बताएँ तो इसे मुस्लिम कम्युनिटी के नाम से जोड़ा जाएगा, मगर जब वे अपनी हिंसा को इस्लाम का नाम देते हैं तो बिल्कुल स्वाभाविक है कि मीडिया में वह इस्लामी हिंसा के नाम से रिपोर्ट किया जाए।

असल हक़ीक़त यह है कि इस्लाम की समस्त शिक्षाएँ शांति के नियमों पर आधारित हैं। क़ुरआन की 99 प्रतिशत आयतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शांति से ही संबंध रखती हैं। फिर भी इसी के साथ इसमें बहुत-सी आयतें या

कुछ आयतें जंग से संबंध रखने वाली भी हैं, मगर इस्लाम में शांति की हैसियत सामान्य की है और जंग की हैसियत अपवाद की।

सैनिक काल से असैनिक काल तक

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब इस्लाम अस्तित्व में आया, उस समय सारी दुनिया में राजनीतिक उत्पीड़न की वह व्यवस्था स्थापित थी जिसे फ़्रांसीसी इतिहासकार हेनरी पिरेन ने पूर्ण साम्राज्यवाद (absolute imperialism) का नाम दिया है। यह उत्पीड़नात्मक व्यवस्था इंसान को हर प्रकार की भलाई से वंचित किए हुए थी। उस समय हुक्म दिया गया कि इस कृत्रिम व्यवस्था का ख़ात्मा कर दो, ताकि इंसान के ऊपर उन भलाइयों का द्वार खुल जाए, जो ईश्वर ने उसके लिए तय की हैं।

क़ुरआन में यह आदेश इन शब्दों में दिया गया— "और उनसे लड़ो, यहाँ तक कि फ़ितना बाक़ी न रहे और दीन सब-का-सब ईश्वर के लिए हो जाए (8:39)।" इस आयत में फ़ितना से तात्पर्य राजनीतिक उत्पीड़न की वह प्राचीन व्यवस्था है, जो इस आयत के अवतरण के समय सारी दुनिया में प्रचलित थी और दीन से अभिप्राय प्रकृति पर आधारित ईश्वर की सृष्टि-निर्माण योजना है। इसका मतलब यह है कि कृत्रिम दमन की व्यवस्था समाप्त हो जाए और संसार में ईश्वर की सृष्टि-निर्माण योजना के अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था स्थापित हो जाए, जिसमें हर इंसान किसी भी काम के लिए अपनी मनमर्ज़ी, चुनाव के लिए आज़ाद हो, हर इंसान खुले माहौल में अपनी परीक्षा दे सके।

पैग़ंबर और उनके साथियों के संघर्ष और उनके बलिदान से कथित प्राचीन व्यवस्था टूट गई और संसार में वह व्यवस्था आ गई, जो ईश्वर को चाहिए थी। फिर भी यह एक महान परिवर्तन था। यह अनोखी क्रांति थी जिसे हेनरी पिरेन ने इस तरह बताया है— "इस्लाम ने दुनिया की शक्ल को बदल दिया। इतिहास का पारंपरिक ढाँचा उखाड़कर फेंक दिया गया।"

Islam changed the face of the globe.
The traditional order of history was overthrown.

यह क्रांति इतनी बड़ी थी कि वह अचानक नहीं आ सकती थी। अतः ईश्वर की विशेष सहायता से वह एक प्रक्रिया (process) के रूप में जारी हुई। इस्लाम

के पहले चरण में यह क्रांति गोया एक धक्के की तरह थी, जो इतिहास को दिया गया। इसके बाद मानव इतिहास एक ख़ास दिशा में चल पड़ा। सातवीं शताब्दी का यह काम निरंतर जारी रहा, यहाँ तक कि वह बीसवीं शताब्दी के बीच में अपनी पूर्णता तक पहुँच गया। इसके बाद यह असंभव हो गया कि प्राचीन शैली की उत्पीड़नात्मक व्यवस्था दोबारा धरती पर क़ायम हो।

बाद के जमाने में दोबारा किसी साम्राज्य (empire) का संसार में स्थापित न होना कोई संयोग की बात नहीं। असल यह है कि पिछली कुछ शताब्दियों के काम के फलस्वरूप ऐसे सार्वभौम परिवर्तन हुए हैं, जो किसी नवीन साम्राज्य की स्थापना के मार्ग में निर्णायक रूप से बाधा हैं। अब वह कारण संसार में उपस्थित ही नहीं, जब कोई राजनीतिक साहसी दोबारा कोई पुराने ज़माने का साम्राज्य खड़ा कर सके।

मौजूदा ज़माने में राजनीतिक साम्राज्य की स्थापना के ख़िलाफ़ जो बाधाएँ (deterrents) पैदा हुई हैं, उनको कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है—

1. पुराने ज़माने में लोगों की मानसिकता ऐसी थी कि जब कोई राजा सैनिक शक्ति के बल पर एक इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लेता था तो वहाँ के लोग उसे राजा का प्राकृतिक अधिकार मानकर उसके शासन को स्वीकार कर लेते थे। यही कारण है कि पुराने ज़माने में एक राजा के शासन को केवल दूसरा राजा ही ख़त्म कर सकता था, न कि प्रजा; मगर मौजूदा ज़माने मे लोकतंत्र, राजनीतिक आज़ादी, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के विचारों के फलस्वरूप जनमत इतना ज़्यादा बदल चुका है कि अब किसी बाहरी शासक को वह सामाजिक स्वीकृति (social acceptance) प्राप्त नहीं होती, जो किसी राज्य की स्थापना व स्थायित्व के लिए आवश्यक है।

2. पुराने ज़माने में अर्थव्यवस्था (economics) संपूर्ण रूप से ज़मीन यानी खेतीबाड़ी पर आधारित होती थी और ज़मीन केवल राजा की संपत्ति समझी जाती थी। मौजूदा ज़माने में औद्योगिक क्रांति ने अनेक नए आर्थिक माध्यम पैदा कर दिए हैं। यह नवीन माध्यम हर व्यक्ति के लिए प्राप्त योग्य हैं। इसलिए अब आम लोगों के लिए यह संभव हो गया कि वे शासक के मुक़ाबले में ऐसे आर्थिक संसाधन प्राप्त कर लें, जो राजनीतिक सत्ता की परिधि के बाहर हों। इस आर्थिक परिवर्तन ने इस बात को संभव बना दिया कि आज ऐसे क्रांतिकारी आंदोलन चलाए जा सकें, जिन्हें रोकना राजनीतिक शासक के लिए संभव न हो।

3. इसी प्रकार एक चीज़ वह है जिसे मीडिया द्वारा रोकथाम (media deterrent) कहा जा सकता है। वर्तमान समय में मीडिया और कम्युनिकेशन की प्रगति ने यह परिस्थिति पैदा कर दी है कि एक इलाक़े में पेश आने वाली घटना तुरंत ही सारी दुनिया में पहुँच जाए। सारी दुनिया के लोग उससे पूरी तरह अवगत हो जाएँ। यह एक ऐसी रुकावट (check) है जिसने प्राचीन प्रकार के राजनीतिक साम्राज्य की स्थापना को लगभग असंभव बना दिया। अब कोई शासक अपने अधिकारों का उस प्रकार निर्भय होकर प्रयोग नहीं कर सकता, जो पहले संभव हुआ करता था।

4. इसी प्रकार एक और चीज़ है जिसे वैश्विक रोकथाम (universal deterrent) कहा जा सकता है। मौजूदा ज़माने में संयुक्त राष्ट्र, एमनेस्टी इंटरनेशनल, ह्यूमन राइट्स की सुरक्षा के नाम पर क़ायम होने वाले संस्थान ऐसे स्थायी चेक हैं जिनकी कोई भी राजनीतिक शासक अनदेखी नहीं कर सकता और न देर तक उनके उल्लंघन को सहन कर सकता है।

इन वैश्विक परिवर्तनों के बाद मानव इतिहास एक नए दौर में प्रवेश कर गया है। पुराना ज़माना अगर सैनिक दौर का था तो नया ज़माना अब असैनिक दौर का है। पुराने ज़माने में हिंसक तरीक़े को किसी बड़ी सफलता के लिए ज़रूरी समझा जाता था, मगर अब शांतिपूर्ण तरीक़े (peaceful method) को पूर्ण रूप से सफल तरीक़े की हैसियत प्राप्त हो चुकी है। अब किसी उद्देश्य की प्राप्ति के संघर्ष को आरंभ से अंत तक इस प्रकार चलाया जा सकता है कि उसके किसी भी चरण में हिंसा के इस्तेमाल की ज़रूरत पेश न आए। वह पूर्ण रूप से शांतिपूर्ण माध्यमों के अधीन रहते हुए सफलता की आख़िरी मंज़िल तक पहुँच जाए। हक़ीक़त यह है कि अब हिंसक कार्य-शैली ज़माने के ख़िलाफ़ (anachronism) कार्य-शैली की हैसियत इख़्तियार कर चुकी है। अब वह मौजूदा ज़माने के अनुरूप कोई काम नहीं।

जिहाद जंग के अर्थ में अरबी विद्वान 'हसन लिग़ैरिही' (good for the sake of others) मानते हैं, न कि 'हसन लिज़ातीही' (good for myself)। अब वर्तमान परिस्थितियों में यह कहना सही होगा कि अब जिहाद जंग के अर्थ में लेने का समय नहीं रहा, अब जिहाद का अभिप्राय शांतिपूर्ण संघर्ष से है और शांतिपूर्ण संघर्ष का समय दुनिया में वापस आ गया है। इसका मतलब यह नहीं कि जिहाद जंग के अर्थ में निरस्त (abolish) हो गया। उसके आदेश क़ानूनन बाक़ी हैं। यह

नया मामला जो पेश आया है, उसका संबंध स्वयं आदेश को निरस्त करने से नहीं है, बल्कि हालात के परिवर्तन से है। इसकी स्पष्टता इस्लामी धर्मशास्त्र (फ़िक़्ह) के इस मसले में पाई जाती है कि जगह और ज़माने के बदलने से आदेश बदल जाते हैं। यह बात स्पष्ट है कि बदलाव और निरस्तता में विभेदीय अंतर पाया जाता है। यह परिवर्तन जो मौजूदा ज़माने में पेश आया है, वह ठीक इस्लाम के पक्ष में है और वह इस्लाम ही की शुरू की हुई क्रांति के परिणामों में से एक परिणाम है। ऐसा इसलिए हुआ कि इस्लाम के निमंत्रण और प्रचार के अवसर अंतिम सीमा तक खोल दिए जाएँ। अब मुसलमान अंतिम रूप से उस दौर में दाख़िल हो चुके हैं, जिसके आने की दुआ कुरआन के अनुसार पैग़ंबर-ए-इस्लाम और उनके साथियों ने इन शब्दों में की थी— "ऐ हमारे रब ! हम पर वह बोझ न डाल, जो हमसे पहले लोगों पर डाला था (2:286)।" इस्लाम के निमंत्रणीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किसी टकराव की ज़रूरत नहीं। अब शांतिपूर्ण तरीक़े से काम करते हुए वह सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, जो इस्लाम में वांछित है।

एक हदीस

पैग़ंबर-ए-इस्लाम का एक संबोधन हदीस की विभिन्न किताबों में आया है। पैग़ंबर के साथी कहते हैं— "हज़रत मुहम्मद हमारे बीच खड़े हुए और अपने ज़माने से लेकर क़यामत* तक पेश आने वाली सारी बातें आपने हमें बताईं। इस संबोधन में आपने अपने अनुयायियों को बहुत सख़्ती के साथ राजनीतिक बग़ावत से मना किया। आपने कहा कि कोई शासक चाहे तुम्हारे लिए ज़ालिम हो, वह तुम्हारी पीठ पर कोड़े मारे और तुम्हारा माल छीन ले, तब भी तुम उसकी आज्ञा का पालन करो।

इसके बाद आपने कहा कि मैं अपने अनुयायियों के लिए सबसे ज़्यादा गुमराह करने वाले लीडरों से डरता हूँ और जब मेरे मानने वालों में तलवार दाख़िल हो जाएगी तो वह इससे क़यामत* तक हटाई न जाएगी। (सुनन अबू दाउद, हदीस नं० 4,252)

इस प्रकार की दूसरी हदीसों की रोशनी में इस हदीस पर ग़ौर किया जाए तो

* सृष्टि के अंत एवं विनाश का दिन।

इसका मतलब यह समझ में आता है कि राजनीतिक मामलों में पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने सख़्ती के साथ हिंसात्मक काम से रोका और शांतिपूर्ण काम की नसीहत की। इसलिए कि हिंसक काम की परंपरा अगर एक बार क़ायम हो जाए तो इसके बाद उसे समाप्त करना बेहद कठिन हो जाता है।

किताबों में ज़्यादातर इस प्रकार की हदीसें आई हैं जिनमें आपने शासक के ख़िलाफ़ विद्रोह करने को अंतिम सीमा तक मना किया है।

इस आधार पर इस्लामी विद्वानों ने इस पर सहमति कर ली है कि स्थापित राज्य के ख़िलाफ़ किसी भी कारणवश विद्रोह करना हराम (अवैध) है। (अल ग़ुलू फ़िद्दीन, पृष्ठ संख्या 417)

एक ओर शासक के ख़िलाफ़ हिंसात्मक राजनीतिक गतिविधियाँ निषेध हैं और दूसरी ओर वर्णनों में आया है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "श्रेष्ठ जिहाद यह है कि कोई व्यक्ति अत्याचारी राजा के सामने सच बात कहे।" (मुसनद अहमद, हदीस नं०11,143)

इन दोनों हदीसों पर ग़ौर करने से मालूम होता है कि किसी को कोई शासक अत्याचारी दिखाई दे, तब भी इसके लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा जिस हद तक जाने की अनुमति है, वह केवल बातचीत द्वारा सुझाव (advice) देना है, न कि व्यवहारतः विरोधपूर्ण राजनीति करना या शासक को हटाने की कोशिश करना। दूसरे शब्दों में यह कि इस्लाम में केवल शांतिपूर्ण संघर्ष (peaceful struggle) है। हिंसापूर्ण संघर्ष (violent struggle) किसी भी हाल में और किसी भी कारणवश इस्लाम में जायज़ नहीं।

इस्लाम के बाद के इतिहास की संभवतः सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि कथित स्पष्ट आदेशों के बावजूद बाद की मुस्लिम पीढ़ियों में जिहाद के नाम पर हिंसात्मक राजनीति की परंपरा चल पड़ी, यहाँ तक कि यह मानसिकता मुसलमानों पर इतनी छा गई कि 'दीन-ए-रहमत' (क़ुरआन, 21:107) इनके यहाँ जंग का दीन बन गया। बाद की शताब्दियों में तैयार होने वाला ज़्यादातर साहित्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी मानसिकता और विचारधारा को दर्शाता है।

बाद के ज़माने में क़ुरआन की जो व्याख्याएँ लिखी गईं, उनमें इस मानसिकता को दर्शाया गया, जैसे कि क़ुरआन की इन व्याख्याओं में कहा गया कि जंग का आदेश उतरने के बाद धैर्य व उपेक्षा की आयतें निरस्त हो गईं। हदीसों को एकत्र करके संकलित किया गया तो उनमें जो हदीसें जिहाद को लेकर थीं, उन्हें हदीस

की किताबों में बहुत विस्तार के साथ जिहाद के अध्याय में एकत्र किया गया, मगर दावत यानी सच्चाई से अवगत कराने का अध्याय किसी भी पुस्तक में शामिल नहीं। यही हाल इस्लामी धर्मशास्त्र की समस्त पुस्तकों का है। धर्मशास्त्र की पुस्तकों में जिहाद और जिहाद से संबंधित आदेश बड़े विस्तार के साथ बताए गए हैं, मगर दावत का अध्याय किसी भी धर्मशास्त्र की पुस्तक में नहीं।

यही हाल बाद में लिखे जाने वाले लगभग समस्त इस्लामी साहित्य का हुआ। प्रसिद्ध इस्लामी विद्वान इब्ने तैमिया से लेकर शाह वली उल्लाह तक और शाह वली उल्लाह से लेकर मौजूदा ज़माने के विद्वानों तक, कोई भी व्यक्ति दावत व तबलीग़ (प्रचार-कार्य) के विषय पर कोई पुस्तक तैयार न कर सका। अगर किसी किताब का नाम दावत व तबलीग़ है तो भी उसमें राजनीति की बातें हैं या धार्मिक क्रिया की श्रेष्ठता की बातें हैं। उसमें दावत व तबलीग़ की कोई बात नहीं।

इस प्रकार के साहित्य से मुसलमानों का जो स्वभाव बना, उसी का यह परिणाम है कि मुसलमानों में टकराव का तरीक़ा अपनाने वाले लोग हीरो बन जाते हैं और जो व्यक्ति अमन का तरीक़ा अपनाए, वह उनमें अलोकप्रिय होकर रह जाता है।

इसी कारण ऐसा हुआ कि इमाम हुसैन के चरित्र को तो हमारे वक्ताओं और लेखकों ने ख़ूब व्यक्त किया, मगर इमाम हसन का चरित्र व्यक्त न किया जा सका। सलाहुद्दीन अय्यूबी जैसे मुस्लिम विजेता को मुसलमानों के बीच ज़बरदस्त लोकप्रियता हासिल हुई, मगर वह लोग जिन्होंने तातारी आक्रमणकारियों को इस्लाम का संदेश पहुँचाकर उन्हें इस्लाम का सेवक बनाया, उनकी कोई चर्चा हमारी इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलती। वर्तमान समय में उसामा बिन लादेन जैसे हिंसा की बात करने वाले लोग बड़ी सरलता से मुसलमानों के बीच हीरो बन जाते हैं, लेकिन कोई व्यक्ति शांति और मानव सम्मान की बात करे तो वह मुसलमानों के बीच सार्वजनिक लोकप्रियता हासिल न कर सकेगा।

इस सोच की सबसे बड़ी हानि यह है कि इंसानियत मुसलमानों का कंसर्न (concern) ही न रही। मुसलमानों का हाल यह हुआ कि ईश्वर के बंदों को वे अपनी क़ौम और ग़ैर-क़ौम (we and they) में बाँटकर देखने लगे। दावती विचारधारा के अनुसार, मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान का रिश्ता दाई (परीचय देने वाला) और मदऊ (जिसको परिचित कराया जाए) का है। इसके विपरीत जिहादी (जंग के मतलब में) विचारधारा में यह होता है कि मुसलमान दूसरों को

अपना प्रतिद्वंद्वी और दुश्मन समझने लगते हैं।

पश्चिमी समुदाय के वर्चस्व के बाद यह अंतर बहुत ज़्यादा बढ़ गया। मुसलमानों को प्रतीत हुआ कि पश्चिमी समुदायों ने उनसे उनकी श्रेष्ठता का स्थान छीन लिया है। इसके नतीजे में यह हुआ कि प्रतिद्वंद्विता और ज़्यादा वृद्धि के साथ नफ़रत बन गई। मुसलमान आम तौर पर दूसरे समुदायों को दुश्मन की नज़र से देखने लगे।

इस्लाम इक्कीसवीं शताब्दी में

पैग़ंबर-ए-इस्लाम और आपके साथियों के द्वारा पहले चरण में जो क्रांति आई, उसका एक पक्ष क़ुरआन का पूरा अवतरित होना और इस्लामी जीवन-शैली का सैद्धांतिक और व्यावहारिक नमूना दुनिया में क़ायम हो जाना है। यह काम उन्हीं के जीवन में पूरा हो गया। यह नमूना क़ुरआन, हदीस, पैग़ंबर का जीवन-चरित्र और पैग़ंबर के साथियों के हालात की किताबों के रूप में हमेशा के लिए सुरक्षित हो गए हैं। वह सार्वकालिक (eternal) रूप से इंसान के लिए ईश्वरीय जीवन-शैली का प्रमाणित नमूना है।

पहले चरण की इस्लामी क्रांति का दूसरा पक्ष वह है, जिसकी प्राकृतिक माँग एक धीमी क्रमबद्ध प्रक्रिया (gradual process) थी। अतः वह लंबे समय के बाद अपनी पूर्णता को पहुँचा। यह दूसरा पक्ष निरंतर प्रक्रिया के रूप में मानव इतिहास में प्रविष्ट हुआ। यह इतिहास में अपार दूरगामी (far reaching) परिवर्तन का मामला था। उसके लिए हज़ार वर्षीय परिवर्तनशील कार्यवाही की आवश्यकता थी। अतः यह काम मक्का और मदीना से जारी होकर सीरिया और इराक़ तक पहुँचा। इसके बाद यह और ज़्यादा आगे बढ़ा। यह प्रारंभ में स्पेन के रास्ते यूरोप में दाख़िल हुआ और उसके बाद यह सारी दुनिया में फैल गया। भविष्य में आने वाली इस प्रक्रिया का वर्णन क़ुरआन में स्पष्ट रूप से मौजूद है। यहाँ इस सिलसिले की कुछ आयतों को अनुकरण किया गया है—

1. "और तुम उनसे लड़ो, यहाँ तक कि फ़ितना (religious persecution) बाक़ी न रहे और दीन सब-का-सब ईश्वर के लिए हो जाए।" (क़ुरआन, 8:39)

2. "आज इनकार करने वाले तुम्हारे दीन की तरफ़ से निराश हो गए।

अतएव तुम उनसे न डरो, केवल मुझसे डरो। आज मैंने तुम्हारे दीन को तुम्हारे लिए पूरा कर दिया और तुम पर अपनी कृपा पूरी कर दी और तुम्हारे लिए इस्लाम को दीन की हैसियत से पसंद कर लिया।" (क़ुरआन, 5:3)

3. "जल्द ही हम उनको अपनी निशानियाँ दिखाएँगे, क्षितिज में भी और स्वयं उनके अंदर भी, यहाँ तक कि उन पर ज़ाहिर हो जाए कि यह क़ुरआन हक़ है।" (क़ुरआन, 41:53)

4. "ऐ हमारे रब ! हम पर बोझ न डाल, जैसा तूने डाला था हमसे अगलों पर।" (क़ुरआन, 2:286)

इस्लामी क्रांति के इस दूसरे पक्ष का सारांश यह था कि इतिहास में ऐसे परिवर्तन लाए जाएँ कि उसके बाद इस्लाम पर चलना पिछले दौर के मुक़ाबले में आसान हो जाए। पिछले दौर के मुसलमानों को जो काम मुश्किल हालात में करना पड़ता था, वह अगले दौर के मुसलमानों के लिए आसानी से करना मुमकिन हो जाए (अल-इनशिराह)। आसान करने के इस काम के भिन्न पक्ष हैं।

इसका एक पक्ष यह है कि पुराने ज़माने में राजशाही के अंतर्गत राजनीतिक और धार्मिक उत्पीड़न की व्यवस्था स्थापित थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत इंसान को सोचने या काम करने की आज़ादी हासिल न थी, जबकि आज़ादी के बिना न धार्मिक आदेशों पर काम किया जा सकता था और न दावत व तबलीग़ का काम अंजाम दिया जा सकता है। इस्लामी क्रांति ने न केवल मुख्य रूप से उत्पीड़न की इस व्यवस्था को तोड़ा, बल्कि इतिहास में एक नई प्रक्रिया जारी की। यह प्रक्रिया मौजूदा ज़माने में अपनी पूर्णता तक इस प्रकार पहुँची। आज मुसलमानों को अपने धार्मिक काम और दावत दोनों की पूरी आज़ादी है, मगर यह कि वे स्वयं अपनी किसी नादानी से हालात को कृत्रिम रूप से अपने ख़िलाफ़ बना लें।

इस क्रांति का एक और पक्ष यह है कि वर्तमान समय में टेक्नोलॉजिकल उन्नति के द्वारा कम्युनिकेशन के आधुनिक माध्यम प्राप्त हो गए हैं। इस प्रकार यह संभव हो गया कि इस्लाम का परिचय तेज़ी के साथ दुनिया के हर हिस्से को दिया जा सके।

इसी प्रकार वर्तमान समय में वैज्ञानिक खोजों ने इसे संभव बना दिया कि ब्रह्मांड में छुपी हुई ईश्वर की निशानियाँ प्रकट हों और ईश्वर के दीन को स्वयं मानव ज्ञान के प्रकाश में तर्कसंगत (logical) व प्रमाणित कर सके।

बीसवीं शताब्दी ईस्वी में यह काम अपनी पूर्णता के अंतिम पड़ाव तक पहुँच

चुका था। अब मुसलमानों के लिए यह संभव हो गया था कि वे अमन व आज़ादी के वातावरण में बख़ूबी ईश्वर के दीन पर काम करें और ईश्वर के दीन को दूसरे समुदायों तक पहुँचाने का निमंत्रणीय कर्तव्य किसी बाधा के बिना अंजाम दें, मगर ठीक इसी शताब्दी में मुसलमानों के अयोग्य मार्गदर्शकों ने ग़लत मार्गदर्शन करके उन्हें ऐसी संलग्नताओं में उलझा दिया, जिसका परिणाम केवल यह हो सकता था कि मुसलमान आधुनिक अवसरों को इस्तेमाल न कर सकें, यहाँ तक कि वे उनके विवेक से वंचित हो जाएँ। यह ग़लतियाँ बुनियादी रूप से दो प्रकार की हैं।

एक ग़लती वह है, जो इस्लाम की राजनीतिक व्याख्या के नतीजे में पैदा हुई। इस व्याख्या ने ग़लत रूप से मुसलमानों की यह मानसिकता बनाई कि वे इस्लाम के पूर्ण अनुयायी केवल उस समय बन सकते हैं, जब वे इस्लाम के समस्त नियम और क़ानून को व्यवहारतः लागू कर दें। इस राजनीतिक सोच का परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम जनता अपने शासकों से लड़ गई, ताकि उनको हटाकर वे शरीअती क़ानून (इस्लामी विधान) लागू कर सकें। इस राजनीतिक बिदअत के नतीजे में कोई भलाई तो सामने नहीं आई, निःसंदेह मुस्लिम दुनिया में स्वयं मुसलमानों के हाथों वह उत्पीड़न व अत्याचार दोबारा शुरू हो गया, जिसे एक लंबी ऐतिहासिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप समाप्त किया गया था। हक़ीक़त यह है कि इंसानों से इस्लाम का पूर्ण अनुसरण वांछित है, न कि इस्लाम को पूर्ण रूप से लागू करना।

दूसरी ग़लती वह है, जो जिहाद के नाम पर वर्तमान समय में शुरू की गई। वर्तमान समय के मुसलमानों को दूसरे समुदायों से कुछ राजनीतिक और भौतिक शिकायतें थीं। इन शिकायतों को शांतिपूर्ण तरीक़ों से हल किया जा सकता था, मगर उत्साही मार्गदर्शकों ने तुरंत जिहाद के नाम पर हथियार उठा लिये और दूसरे समुदायों के ख़िलाफ़ सशस्त्र लड़ाई शुरू कर दी। इस स्वयं-रचित जिहाद के नतीजे में न केवल नवीन संभावनाएँ नष्ट हो गईं, बल्कि मौजूदा ज़माने के मुसलमान इतनी बड़ी तबाही से दो-चार हुए, जैसी तबाही अतीत की लंबी तारीख़ में उनके साथ कभी पेश नहीं आई थी।

मुस्लिम मार्गदर्शकों के ग़लत मार्गदर्शन के नतीजे में मुसलमान बीसवीं शताब्दी को खो चुके हैं। अब देखना यह है कि वे अपनी ग़लतियों का सुधार करेंगे या वर्तमान शताब्दी को भी उसी तरह खो देंगे, जिस तरह वे पिछली शताब्दी को खो चुके हैं।

जंग इस्लाम में

कुछ इस्लामी चिंतकों का कहना है कि इस्लाम में जंग दो प्रकार की हैं— सुधारवादी जंग और रक्षात्मक जंग। यह बिल्कुल आधारहीन बात है। इस दृष्टिकोण के लिए क़ुरआन और हदीस में कोई दलील मौजूद नहीं।

हक़ीक़त यह है कि इस्लाम में केवल एक जंग है और वह है रक्षात्मक जंग। इस्लामी शिक्षाओं के अनुसार, सुधारवादी आंदोलन होता है, सुधारवादी जंग नहीं होती। सुधारवादी जंग क़ुरआन व सुन्नत के पूरे भंडार में एक अजनबी चीज़ है। इसका मूल स्रोत कवियों, वक्ताओं और साहित्यकारों की कल्पनाएँ हैं, न कि ईश्वर और उसके रसूल की सुन्नत।

एक प्रसिद्ध हदीस के अनुसार, हर प्रकार के सुधार का आधार हृदय पर है। हदीस में कहा गया है कि जिस प्रकार शारीरिक प्रणाली में हृदय के स्वस्थ रहने से पूरा शरीर स्वस्थ रहता है, यही मामला दीनी प्रणाली का भी है। इंसान में सुधार करने की दशा यह है कि मानसिकता के स्तर पर इसके अंदर सुधार लाया जाए।

इस हदीस के अनुसार सुधारवादी आंदोलन का नियम यह है कि सारी ताक़त इंसान के विचार और विवेक को बदलने पर ख़र्च की जाए। तर्क के द्वारा आदमी की सोच को बदलना, स्वर्ग व नरक की बातों के द्वारा उसके हृदय में कोमलता पैदा करना, ईश्वर की निशानियों को स्मरण के द्वारा उसके ईश्वरीय स्वभाव को जगाना। यह है इंसानी सुधार का तरीक़ा। इसे दूसरे शब्दों में सुधारवादी आंदोलन भी कहा जा सकता है।

जंग का उद्देश्य सदैव बाहरी बाधा को दूर करना होता है, न कि इंसान के विवेक और अंतरात्मा को जगा देना। विवेक और अंतरात्मा को जगाने का एकमात्र तरीक़ा उपदेश व दीक्षा है, इसका जंग से कोई संबंध नहीं।

इस्लाम में जंग की केवल एक क़िस्म है और वह है रक्षा या सुरक्षा (defense)। अगर कोई गिरोह मुसलमानों के ख़िलाफ़ आघात पहुँचाने का काम करे तो क्षमतानुसार उससे मुक़ाबला किया जाएगा, चाहे मुक़ाबला खुली जंग के रूप में हो या किसी और रूप में। सामान्य परिस्थितियों में इस्लाम का तरीक़ा

शांतिपूर्ण निमंत्रण का तरीक़ा है और हमला या आघात पहुँचने के रूप में सशस्त्र मुक़ाबले का तरीक़ा।

एक अध्ययन

हुदैबिया संधि (628 ई०) के बाद जब हालात सामान्य हुए तो पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने मदीने के बाहर विभिन्न क्षेत्रों में प्रचारक दस्ते रवाना किए। उन्हीं में से एक दस्ता वह था, जिसे मदीने के उत्तर में शाम (सीरिया) की सीमा से मिले हुए इलाक़े की ओर भेजा गया था। यहाँ ईसाई क़बीले आबाद थे और वे रूमी (बाइज़ेनटाइन) राज्य के अधीन थे।

इस प्रचारक प्रतिनिधि मंडल में पंद्रह आदमी थे और उनके लीडर कआब बिन उमैर अल-ग़फ्फ़ारी थे। वे शाम के निकट ज़ात-ए-इतलाह नामक जगह पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक जगह पर काफ़ी लोग जमा हैं। उन्होंने उन्हें इस्लाम का निमंत्रण दिया, मगर उन्होंने उनकी पुकार पर 'हाँ' नहीं कहा, बल्कि उन पर तीर बरसाने लगे। (अल-बिदाया वन-निहाया, 241:4)

इस एकतरफ़ा आक्रमण में बारह मुसलमान शहीद हो गए। केवल कआब बिन उमैर अल-ग़फ्फ़ारी घायल अवस्था में मदीना वापस आए। शाम की सीमा पर बसने वाले ईसाइयों का आक्रमण अप्रत्यक्ष रूप से रूमी सल्तनत का आक्रमण था। इस प्रकार रूमी सल्तनत ने सबसे पहले इस्लाम के ख़िलाफ़ अपनी ओर से आक्रमण का आरंभ किया।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपने एक साथी अल-हारिस बिन उमैर अल-अज़्दी को एक दावती ख़त लेकर बसरा (इराक़) के राजा की ओर भेजा। जब वे मूतह नामक जगह पर पहुँचे तो उनकी भेंट शुराह्बील बिन अम्र अल-ग़स्सानी से हुई। उसने उनसे पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो। उन्होंने कहा बसरा के राजा के पास। उसने कहा, "शायद तुम मुहम्मद के दूत हो।" इन्होंने कहा कि हाँ। इसके बाद उसने अपने आदमियों को हुक्म दिया और उन्होंने अल-हारिस बिन उमैर को तलवार से क़त्ल कर दिया। कहा जाता है कि उसने यह क़त्ल बसरा के राजा के कहने पर किया था। (अल-रसूल फ़ी अल-मदीना, 229)

शुराह्बील बिन अम्र अल-ग़स्सानी ईसाई था और वह रूमी राज्य का एक अधिकारी था। इसका काम अंतर्राष्ट्रीय परंपरा के अनुसार जंग की ओर अग्रसर होने के अर्थ के समान था, इसलिए आपने तीन हज़ार लोगों की सेना तैयार करके

जमादी-उल-ऊला, 8 हिजरी में उसे मूतह (शाम) की ओर रवाना कर दिया। शुराह्बील को जब मुस्लिम सेना की रवानगी की जानकारी हुई तो उसने एक लाख आदमियों की सेना मुसलमानों के मुक़ाबले के लिए जमा की। उसके साथ रोम के राजा हिराक़्ल एक लाख सेना लेकर शुराह्बील की सहायता के लिए बलक़ाअ नामक स्थान पर पहुँचा। तीन हज़ार और दो लाख का अनुपात बहुत ज़्यादा असंतुलित था। यह मुक़ाबला निर्णायक न बन सका, फिर भी मुसलमानों ने इतनी वीरता के साथ मुक़ाबला किया कि रूमियों के ऊपर मुसलमानों की सैनिक क्षमता का भय स्थापित हो गया।

प्राच्य विद्वान (orientalist) वाशिंगटन इरविंग (Washington Irving) ने विस्तृत अध्ययन के बाद पैग़ंबर-ए-इस्लाम के जीवन पर किताब लिखी है। इसका उद्धरण दक्तूर अली हसनी अलख़र बूतली ने अपनी किताब 'अल-रसूल फ़िल मदीना' में अनुकरण किया है। वाशिंगटन इरविंग ने लिखा है कि अरब में इस्लाम के प्रसार से जब अरब के बिखरे हुए क़बीले संगठित हो गए तो राजा हिराक़्ल को यह अरब एकता अपने लिए ख़तरा महसूस हुई। उसने तय किया कि एक बड़ी सेना तैयार करे और अपने संभावी दुश्मन पर आक्रमण करके कुचल डाले। अतः उसने अरब की सीमा पर अपनी सेना को इकट्ठा करना शुरू कर दिया। (पृष्ठ संख्या 232)

पैग़ंबर-ए-इस्लाम बराबर चारों ओर के हालात मालूम करते रहते थे। अतः जब आपको यह मालूम हुआ कि हिराक़्ल ने अरब की सीमा पर फ़ौज जमा की है, ताकि अरब पर आक्रमण करके इस्लाम का ज़ोर तोड़ दे तो आपने तुरंत जवाबी कार्यवाही का निर्णय किया। इसके बाद वह जंगी मुहिम पेश आई, जिसे 'ग़ज़वा-ए-तबूक' कहा जाता है।

आपने निरंतर उपदेश व दीक्षा के द्वारा मुसलमानों में यह भावना उजागर की कि वे ज़्यादा-से-ज़्यादा तादाद में इस मुहीम के लिए निकलें। अत: कठिन परिस्थितियों के बाद भी 30 हज़ार की सेना इस मुहीम के लिए तैयार हो गई। इस बारे में जो वर्णन हुए हैं, उनका एक अंश यह है—

हज़रत मुहम्मद जब किसी जंग के लिए निकलते तो बड़ी गोपनीयता से काम लेते थे, मगर ग़ज़वा-ए-तबूक में आपने इससे भिन्न तरीक़ा अपनाया। इस बार आपने खुलेआम लोगों के सामने घोषणा की। आपने उन्हें जिहाद का हुक्म दिया और उन्हें इस बात की ख़बर दी कि आपका निशाना रोम की तरफ़ है। (अल-बिदाया वन-निहाया, 3:5)

ग़ज़वा-ए-तबूक इस्लामी इतिहास की एक प्रमुख घटना है। इसके विषय में बहुत से विवरण पैग़ंबर की जीवनी और इतिहास में आए हैं। इस घटना का अध्ययन कीजिए तो इससे पैग़ंबर-ए-इस्लाम की जंग-पद्धति के बारे में अति महत्त्वपूर्ण नियम सामने आते हैं। इनमें से दो नियम यह हैं—

1. एक यह कि तबूक की मुहिम के अवसर पर पैग़ंबर-ए-इस्लाम का फ़ौजी क़दम बढ़ाना बतौर सुरक्षा था। वह कोई आक्रमण न था। इससे मालूम हुआ कि इस्लाम में आक्रमक जंग नहीं है। इस्लाम में जंगी अग्रसरता केवल उस समय की जाती है, जबकि बतौर सुरक्षा ऐसी अग्रसरता करना आवश्यक हो गया हो।

2. दूसरी बात यह कि रक्षात्मक अग्रसरता में भी टकराव अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। अगर इसकी संभावना हो कि शक्ति के प्रदर्शन से यह लाभ हो सकता है कि दुश्मन पीछे हट जाए और अपने आक्रामकता के इरादे से रुक जाए तो अपनी अग्रसरता को प्रदर्शन की सीमा में रखा जाएगा, इसे अनिवार्यतः जंगी टकराव तक नहीं ले जाया जाएगा।

यही बुद्धिमानी थी जिसके आधार पर पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने अपने सामान्य स्वभाव के ख़िलाफ़ तबूक की तैयारी पूरे तौर पर खुलेआम और घोषणा के साथ की और फ़ौज के प्रस्थान में भी गोपनीयता के स्थान पर प्रकटीकरण का तरीक़ा अपनाया। इसके फलस्वरूप यह हुआ कि आपके शाम की सीमा पर पहुँचने से पहले रूमियों तक यह ख़बर पहुँच गई कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम 30 हज़ार वीर लोगों के साथ रूमियों की तरफ़ बढ़ रहे हैं।

इस प्रदर्शन का संभावित लाभ प्राप्त हुआ। रूमी शासक ने भयभीत होकर अपनी फ़ौजों को पीछे हटने का हुक्म दे दिया। जब पैग़ंबर-ए-इस्लाम को रूमी फ़ौजों की पीछे हटने की जानकारी हुई तो आप भी आगे बढ़ने से रुक गए। (अल-रसूल फ़ी अल-मदीना, पृष्ठ 234)

इस्लाम की आम पॉलिसी यही है कि जहाँ तक संभव हो जंग से बचा जाए। यह पॉलिसी इस्लाम के मूल उद्देश्य व योजना के अनुसार है, क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य लोगों को नरक के रास्ते से हटाकर स्वर्ग का रास्ता दिखाना है, न यह कि वे बेख़बरी (unawareness) के जिस जीवन में हैं, वहीं मारकर उन्हें ख़त्म कर दिया जाए।

एक व्यापारी की दृष्टि आदमी की जेब पर होती है, जबकि एक योद्धा की दृष्टि आदमी की गर्दन पर। इसके विपरीत इस्लाम की दृष्टि आदमी के हृदय पर

होती है। इस्लाम का उद्देश्य लोगों का हृदय-परिवर्तन करना है, ताकि वे अपने ईश्वर की कृपाओं में हिस्सा पा सकें।

कोई व्यक्ति चाहे दुश्मन हो या किसी दूसरे धर्म से संबंध रखता हो, उन सबसे पहले वह इंसान है। इस्लाम चाहता है कि हम उस 'इंसान' तक पहुँचें और उसके हृदय के द्वार पर दस्तक दें। क्या अजब कि उसका प्राकृतिक गुण जाग उठे और वह ईश्वरीय मार्ग पर चल पड़े।

इसका उदाहरण स्वयं रूमियों के क़िस्से में मौजूद है। ठीक उस ज़माने में जबकि रूमियों से कशमकश चल रही थी, रूमियों के उच्च पदाधिकारी ने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

यह फ़रवह बिन अम्र अल-जुज़ामी थे। वह एक ईसाई थे। क़बीला बनू अल-नाफ़रह के ऊपर रूमियों की ओर से शासक थे। बनू अल-नाफ़रह के लोग उक़बा खाड़ी और यनबअ के बीच रहते थे। जब इस्लाम का प्रकटन हुआ और इसकी ख़बरें अरब में फैलीं तो फ़रवह इससे प्रभावित हुए। अंततः उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

फ़रवह अल-जुज़ामी ने अपने इस्लाम स्वीकार करने की सूचना एक संदेशवाहक के द्वारा पैग़ंबर-ए-इस्लाम के पास भेजी और उपहारस्वरूप एक सफ़ेद ख़च्चर भी आपके लिए भेजा। रूमी राजा को जब इस घटना की सूचना मिली तो उन्होंने फ़रवह को अपने पास बुलाकर उन्हें क़ैद में डाल दिया। इसके बाद वे फ़रवह को फ़िलिस्तीन में अज़रा नामक एक झरने के पास ले गए और तलवार से उन्हें क़त्ल कर दिया। रूमी जब फ़रवह को हत्या-स्थल पर लाए तो फ़रवह ने यह छंद कहा— अर्थात मुसलमानों के सरदार को यह ख़बर पहुँचा दो कि मेरी हड्डियाँ और मेरा पूरा अस्तित्व मेरे रब के लिए है। (सीरत इब्ने-हिशाम, 262:4)

फ़रवह बिन अम्र हालाँकि क़त्ल कर दिए गए, मगर एक नियम पर क़ायम रहने के आधार पर क़त्ल किया जाना कोई साधारण घटना नहीं। ऐसा आदमी अपने पूरे अस्तित्व से इस नियम की सच्चाई की गवाही देता है, जिसकी ख़ातिर उसने अपनी जान दे दी है। जहाँ लोगों ने स्वयं-रचित सिद्धांतों को बाज़ार की स्याही से लिख रखा है, वहाँ वह अपने सिद्धांतों की सत्यता को अपने ख़ून से लिखता है— ऐसी मौत हज़ारों लोगों के लिए जीवन का सबब होती है। अतः यही हुआ। प्रथम दौर के मुसलमानों की इस प्रकार की क़ुर्बानियों ने एक ईसाई इलाक़े को सदैव के लिए एक मुस्लिम इलाक़ा बना दिया।

अमन संयुक्त समाज में

भारतीय उपमहाद्वीप लंबे संघर्ष के बाद 15 अगस्त, 1947 को आज़ाद हुआ। यह आज़ादी द्विराष्ट्रीय सिद्धांत (two nation theory) के नियम पर मिली। फिर भी जो चीज़ विभाजित हुई वह भूगोल था, न कि समुदाय अर्थात भारत और पाकिस्तान के नाम पर दो देश बन गए, मगर दोनों समुदाय के लोग दोनों भागों मे यथावत आबाद रहे। यह एक भयंकर परिस्थिति थी, क्योंकि क़ौमी झगड़े को समाप्त करने के नाम पर देश को तो विभाजित कर दिया गया, मगर क़ौम अविभाजित रही। इस प्रकार ज़मीनी बँटवारे के बावजूद विवादित परिस्थिति यथावत क़ायम रही, बल्कि ज़्यादा कठोरता के साथ। पहले अगर वह सत्ताहीन क़ौमों का झगड़ा था तो अब वह दो सत्तावान राज्यों का झगड़ा बन गया।

इस समस्या की जटिलता को महात्मा गाँधी ने पहले ही दिन महसूस कर लिया था। अतः आज़ादी के समय उन्होंने अपने एक लेख में यह ऐतिहासिक शब्द लिखे थे— हिंदुओं और मुसलमानों को शांति और संगत के साथ रहना होगा, अन्यथा मैं इस कोशिश में अपनी जान दे दूँगा।

Hindus and Muslims should learn to live together with peace and harmony, or else I will die trying.

संयोगवश महात्मा गाँधी को भारत की आज़ादी के शीघ्र बाद गोली मारकर क़त्ल कर दिया गया। यह निःसंदेह बहुत बड़ी घटना थी। इसका नतीजा यह हुआ कि शांति और एकता क़ायम करने का काम अपने पहले ही चरण में अपने सबसे बड़े लीडर से वंचित हो गया।

जैसा कि ज्ञात है, आज़ादी के साथ ही विभाजन रेखा के दोनों ओर भयानक रूप से सांप्रदायिक हिंसा शुरू हो गई। हिंसा का यह सिलसिला कई वर्ष तक जारी रहा। आख़िरकार उस समय के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस समस्या पर एक नेशनल कॉन्फ्रेंस बुलाई। इसका सत्र नई दिल्ली में 28 सितंबर से एक

अक्टूबर, 1961 तक जारी रहा। इस सम्मेलन में एक मत से एक संगठन का गठन किया गया, जिसका नाम 'राष्ट्रीय एकता परिषद' (National Integration Council) था। इसका केंद्रीय कार्यालय नई दिल्ली में स्थापित किया गया। इस संगठन का उद्देश्य यह बताया गया कि राष्ट्रीय एकता से संबंधित समस्त समस्याओं का जायज़ा ले और आवश्यक सुझाव (recommendations) पेश करे।

इस परिषद का सम्मेलन दूसरी बार 2-3 जून, 1962 को नई दिल्ली में हुआ। सम्मिलित गणों ने भाषण दिए और सांप्रदायिक समस्या के निराकरण के लिए कई प्रस्ताव पेश किए, मगर इन प्रस्तावों पर कोई काम न हो सका, यहाँ तक कि दो बार के बाद इस परिषद का कोई तीसरा सम्मेलन जवाहरलाल नेहरू के जीवन में नहीं हुआ।

इसके बाद जब इंदिरा गाँधी देश की प्रधानमंत्री बनीं तो उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्रीय एकता परिषद को दोबारा जीवित किया जाए। उन्होंने 20-21 जून, 1968 को श्रीनगर में संगठन का सम्मेलन बुलाया। यहाँ विस्तृत बहसें हुईं। अंततः एक संपूर्ण कार्यक्रम बनाया गया। इसका एक भाग यह था।

सांप्रदायिक गतिविधियों का मतलब यह क़रार दिया जाए कि हर वह काम जो विभिन्न धार्मिक वर्गों या समुदाय या जातियों या बिरादरियों के बीच धर्म, नस्ल, ज़ात-पाँत या बिरादरी के आधार पर या किसी भी आधार पर दुश्मनी या नफ़रत फैलाए या फैलाने का प्रयास करे, यह अपराध पुलिस के हस्तक्षेप योग्य हो और इसके अंतर्गत सज़ा पाने वाले को जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (peoples representative act) के अंतर्गत अयोग्य क़रार दिया जाए। अफ़वाह फैलाना या घबरा देने वाली ख़बरें या विचारों के प्रकाशन को धारा 153 (A) के अंतर्गत अपराध क़रार दिया जाए।

परिषद की सभाओं में इस प्रकार के बहुत से प्रस्ताव सर्वसम्मति के साथ पास किए गए। उसके बाद उसके समर्थन में बहुत से क़ानून व नियम बनाए गए, मगर व्यवहारतः इनका कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इस ऐतबार से देश की वास्तविक स्थिति अब भी लगभग वही है, जैसी कि वह 1947 में थी।

इस नाकामी का कारण क्या है? इसका बुनियादी कारण यह है कि इस समस्या को साधारण रूप से क़ानून एवं व्यवस्था की समस्या समझ लिया गया, मगर अपनी मूल वास्तविकता के ऐतबार से यह समस्या क़ानून एवं व्यवस्था की

समस्या नहीं, वह वैचारिक निर्माण और बौद्धिक जागरूकता की समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए वास्तविक ज़रूरत यह है कि लोगों को शिक्षित (educate) किया जाए, उनके अंदर सही सोच पैदा की जाए। उनके अंदर यह क्षमता पैदा की जाए कि वे एक चीज़ और दूसरी चीज़ के अंतर को समझें। वे परिणामजनक काम और बेनतीजा काम के बीच भेद करना जानें। वे यह जानें कि उन्हें क्या करना है और क्या नहीं करना। वे इस हक़ीक़त को समझें कि कार्यवाही करने से पहले कार्यवाही के परिणामों पर पूर्णतः सोचना आवश्यक है। कार्यवाही को सोच के अधीन होना चाहिए, न कि सोच को कार्यवाही के अधीन बना दिया जाए।

इस प्रकार का विवेकी समाज मानो वह ज़मीन है, जहाँ सांप्रदायिक सद्भावना (communal harmony) की फ़सल उगाई जा सकती है। क़ानून का उद्देश्य यह होता है कि समाज के अपवादिक बिगाड़ को सर्जरी जैसी कार्यवाही के द्वारा ठीक किया जाए। कोई क़ानून समाज की सार्वजनिक हालत के सुधार के लिए नहीं होता। सर्जरी का काम एक आंशिक बीमारी को स्वास्थ्य देने के लिए होता है। अगर पूरा शरीर पूर्ण रूप से रोग का शिकार हो जाए तो ऐसी स्थिति में सर्जरी का कोई लाभ नहीं।

यहाँ मैं इस समस्या के कुछ बुनियादी पहलुओं को स्पष्ट करना चाहता हूँ। यह पक्ष सीधे रूप से लोगों की वैचारिक बनावट से संबंध रखते हैं। बहुत ज़रूरी है कि इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर हमारे ज़हन में हो, ताकि किसी भ्रम के बिना विचारों को साकार करना या बौद्धिक विकास (intellectual development) के निर्माण का काम किया जा सके।

धार्मिक मतभेद

इस सिलसिले में पहली सैद्धांतिक समस्या वह है, जो धार्मिक मतभेद से संबंध रखती है। धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन प्रत्यक्ष रूप से यह बताता है कि धर्मों के बीच खुले मतभेद पाए जाते हैं। जैसे किसी धार्मिक गिरोह की आस्था अद्वैतवाद (monism) की कल्पना पर क़ायम है और किसी गिरोह की आस्था एकेश्वरवाद (monotheism) की कल्पना पर क़ायम है। किसी धर्म में स्वयं खोजी हुई सच्चाई (self-discovered truth) की अवधारणा है और किसी

धर्म में ईश्वरीय प्रेरणा (revealed truth) की।

कुछ लोगों का विचार है कि यह धार्मिक भेद व भिन्नता ही सभी सांप्रदायिक विवादों की असल जड़ है। देश में सांप्रदायिक सद्भावना केवल उस समय पैदा की जा सकती है, जब कि किसी-न-किसी प्रकार इन धार्मिक मतभेदों को समाप्त कर दिया जाए। कुछ अतिवादी लोग मतभेदों को बुलडोज़ कर देने की (bulldoze them all) की भाषा में बोलते हैं, मगर यह बात इतनी भी अनुसरण योग्य नहीं कि इसकी चर्चा की जाए। कुछ दूसरे लोग यह प्रयास कर रहे हैं कि किसी-न-किसी प्रकार यह साबित कर दिया जाए कि समस्त धर्मों की शिक्षाएँ एक हैं।

इस दूसरे गिरोह में स्पष्ट नाम डॉक्टर भगवान दास (1869-1958) का है। वह बहुत बड़े ज्ञानी थे। उन्होंने समस्त बड़े-बड़े धर्मों के लंबे अध्ययन के बाद एक पुस्तक तैयार की जिसमें यह दिखाया गया है कि समस्त धर्मों की शिक्षा एक है। यह पुस्तक 929 पृष्ठों पर आधारित है और इसका नाम यह है:

Essential Unity of All Religions

चुनिंदा उद्धरणों को लेकर हर धर्म को एक साबित करना ऐसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति विभिन्न देशों के विधान को लेकर हर विधान से कुछ चुनिंदा धाराओं को जमा करके एक पुस्तक छापे और उसके आधार पर यह दावा करे कि प्रत्येक देश का विधान एक है और एक ही प्रकार की धाराओं का संग्रह है। इस प्रकार का लौकिक विधान किसी लेखक को तो ख़ुश कर सकता है, मगर वह किसी एक देश के लिए भी काम का न होगा। हर देश इसे धन्यवाद के साथ रद्द कर देगा। यही मामला धार्मिक एकता के बारे में कथित प्रकार की पुस्तकों का है। इस प्रकार की पुस्तक उसके संकलनकर्ता को ख़ुश कर सकती है, मगर वह धार्मिक लोगों के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती।

मैंने भी इस विषय पर विस्तृत अध्ययन किया है। मैंने अपने अध्ययन में पाया कि समस्त धर्मों को एक बताना तथ्यों के अनुसार सही नहीं। हक़ीक़त यह है कि विविध धर्मों में इतने ज़्यादा मतभेद हैं कि उनको एक साबित करना व्यावहारिक रूप से संभव ही नहीं। जैसे किसी धर्म का यह कहना कि ईश्वर एक है। कोई कहता है कि ईश्वर दो हैं। कोई धर्म बताता है कि ईश्वर तीन हैं और किसी धर्म का दावा है कि उनकी संख्या 33 करोड़ है। किसी के निकट उनकी संख्या इतनी ज़्यादा है कि उनकी गणना ही संभव नहीं। ऐसी हालत में हर धर्म की शिक्षा

को एक बताना एक ऐसा बयान है, जो किसी ख़ुशफ़हम (wishful thinker) के दिमाग़ में तो जगह पा सकता है, मगर व्यावहारिक एवं तार्किक रूप से इसे समझना संभव ही नहीं।

यहाँ तक कि मान लें किसी युक्ति से समस्त धर्मों के मूल ग्रंथों (text) को एक साबित कर दिया जाए, तब भी मतभेद समाप्त न होगा; क्योंकि हम देखते हैं कि भिन्न धर्मों में प्रत्येक का एक स्वीकृत मूल ग्रंथ (text) है, मगर इस मूल ग्रंथ की व्याख्या में दोबारा मतभेद पैदा हो जाते हैं और एक धार्मिक मूल ग्रंथ स्वयं आंतरिक रूप से कई धार्मिक पंथ (sects) अस्तित्व में लाने का कारण बन जाता है।

हक़ीक़त यह है कि मतभेद या अंतर केवल धर्म की बात नहीं। हमारी दुनिया पूरी-की-पूरी भेदों और विभिन्नताओं के नियम पर स्थापित है। यह अंतर इतना ज़्यादा व्यापक है कि कोई भी दो चीज़ या कोई भी दो इंसान भेद से ख़ाली नहीं। किसी ने सही कहा है—

"प्रकृति समानता से नफ़रत करती है।"

"Nature abhors uniformity."

जब भेद और भिन्नता स्वयं प्रकृति का एक क़ानून हो तो धर्म उससे अलग क्योंकर हो सकता है। हक़ीक़त यह है कि जिस प्रकार दुनिया की समस्त चीज़ों में एक-दूसरे के बीच अंतर पाया जाता हो, इसी प्रकार धर्मों में भी एक-दूसरे के बीच अंतर है। दूसरे मामलों में हमने अंतर को मिटाने की ज़रूरी कोशिश नहीं की, बल्कि यह कह दिया कि आओ, हम इस पर सहमति कर लें कि हमारे बीच मतभेद हैं—

"Let us agree to disagree."

यही व्यावहारिक सूत्र धर्म के मामले में भी हमें धारण करना चाहिए। यहाँ भी हमें भिन्नता और मतभेद के बावजूद एकता पर ज़ोर देना चाहिए, न कि भिन्नता व मतभेद के बिना एकता पर। हक़ीक़त यह है कि धार्मिक मतभेदों की समस्या का समाधान केवल एक है और वह है—

"एक का अनुसरण करो और सबका सम्मान करो।"

"Follow one and respect all."

संस्कृति में मतभेद

इस सिलसिले में दूसरी समस्या सांस्कृतिक मतभेद (cultural differences) है। विभिन्न गिरोहों के बीच संस्कृति का मतभेद एक हक़ीक़त है। कुछ लोगों का विचार है कि यही मतभेद समस्त विवादों की जड़ है। उनके निकट इस समस्या का हल यह है कि संस्कृति के नाम पर जो मतभेद समाज में पाए जाते हैं, उन्हें एक सिरे से मिटा दिया जाए और ऐसा समाज अस्तित्व में लाया जाए जिसके अंदर सांस्कृतिक एकता (cultural unity) हो।

यह प्रस्ताव भी सरासर अव्यावहारिक (impractical) है। संस्कृति न किसी के बनाने से बनती है और न किसी के मिटाने से मिटती है। संस्कृति हमेशा ऐतिहासिक कारकों के अंतर्गत लंबे समय में बनती है। किसी दफ़्तर में बैठकर संस्कृति का नक़्शा नहीं बनाया जा सकता।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कई देशों में ऐसे विचारक (ideologue) पैदा हुए, जिन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए एक संस्कृति का समाज बनाने पर बल दिया। जैसे कनाडा में इसी सिद्धांत के अंतर्गत 'यूनिकल्चरिज़्म' (uni-culturism) का आंदोलन चलाया गया, मगर अनुभव ने बताया कि यह अनुसरण योग्य काम नहीं। अतः 20 वर्ष के अंदर-ही-अंदर इस दृष्टिकोण को त्याग दिया गया। अब कनाडा में सरकारी तौर पर 'मल्टी-कल्चरिज़्म' (multi-culturism) के नियम को धारण कर लिया गया है और यूनिकल्चरिज़्म के सिद्धांत को हमेशा के लिए छोड़ दिया गया है।

यही मामला अमेरिका का है। अमेरिका में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 'अमेरिकनाइज़ेशन' (Americanization) का आंदोलन चलाया गया। इसका उद्देश्य भी यही था, मगर एक लंबे संघर्ष के बाद मालूम हुआ कि एक समान संस्कृति का यह सिद्धांत व्यावहारिक नहीं। अतः इस सिद्धांत का त्याग कर दिया गया और अमेरिका में भी मल्टी-कल्चरिज़्म के नियम को धारण कर लिया गया।

हक़ीक़त यह है कि संस्कृति में मतभेद दो गिरोहों के बीच मतभेद का मामला नहीं है, बल्कि स्वयं एक गिरोह के भीतर भी यह मतभेद पाया जाता है। इस आंतरिक मतभेद के उदाहरण हर गिरोह में देखे जा सकते हैं। इसलिए विभिन्न धर्मों के बीच एकता और सहमति लाने के लिए धार्मिक शिक्षाओं में परिवर्तन आवश्यक नहीं। आवश्यकता केवल यह है कि धर्म को मानने वालों के अंदर

वह सोच पैदा की जाए, जिसे कहा जाता है—

जियो और जीने दो

Live and let live

कुछ लोग इस असफल अनुभव को अब भी दोहराना चाहते हैं और इसका नाम उन्होंने 'सोशल री-इंजीनियरिंग' रख दिया है— Social Re-engineering of Indian Society.

इसका मतलब यह है कि समाज के विभिन्न गिरोहों में जो सांस्कृतिक अंतर पाया जाता है, इसका दोबारा निर्माण किया जाए और ऐसा समाज बनाया जाए जिसमें संस्कृति का भेद समाप्त कर दिया गया हो और एक देश के समस्त लोग एक ही साझा संस्कृति के अनुसार जीवन गुज़ारें।

समान संस्कृति बनाने के काम को जो भी नाम दिया जाए, परिणाम हर हाल में सबका एक है और वह यह है कि इसका कोई परिणाम नहीं। इस प्रकार का सिद्धांत अपनी हक़ीक़त के ऐतबार से सांस्कृतिक बुलडोज़िंग है। इसे चाहे सोशल री-इंजीनियरिंग कहा जाए या सांस्कृतिक नेशनलिज़्म, वह हर हाल में नामुमकिन काम है और जो चीज़ प्राकृतिक नियमों के अनुसार सिरे से मुमकिन ही न हो, उसे अपने काम का निशाना बनाना केवल अपना समय नष्ट करना है।

इस मामले में मेरा विरोध सैद्धांतिक बुनियाद पर नहीं, बल्कि व्यावहारिक (practicality) बुनियाद पर है। मैं यह नहीं कहता कि यह ग़लत है, बल्कि मैं यह कहता हूँ कि यह अव्यावहारिक है। अगर मान लें ऐसा संभव होता कि पूरे देश की एक भाषा, एक संस्कृति, रहन-सहन का एक तरीक़ा बन जाए तो मैं यह कहता हूँ कि अवश्य ही ऐसा करना चाहिए, मगर प्रकृति के क़ानूनों और इतिहास के संदर्भ में ऐसी समानता संभव ही नहीं, न कभी अतीत में संभव हुई है और न वह भविष्य में संभव हो सकती है। संस्कृति हमेशा स्वयं अपने क़ानूनों के अंतर्गत बनती है। ऐसा संभव नहीं कि किसी दफ़्तर में संस्कृति का एक अपनी पसंद का नक़्शा बनाया जाए और उसे देश के समस्त गिरोह पर लागू कर दिया जाए।

ऐसी हालत में हमें वही करना चाहिए, जो हम दूसरे मतभेदों पर करते हैं अर्थात सहनशीलता (tolerance) के नियम पर अपनी समस्या का समाधान करना। हक़ीक़त से अनुकूलता का तरीक़ा धारण करके इससे निपटना, न कि इससे टकराव का तरीक़ा धारण करना। इस मामले में टकराव का तरीक़ा केवल समस्या को बढ़ाने वाला है, न कि इसका समाधान करने वाला।

यहाँ एक और बात की स्पष्टता आवश्यक है। कुछ लोग यह कहते हैं कि हिंदू तो भारत में पैदा हुए। इनकी वफ़ादारी का केंद्र इसी देश में है, लेकिन मुसलमानों का मामला इससे भिन्न है। मुसलमानों की आस्था के केंद्र (जैसे मक्का और मदीना) भारत से बाहर हैं, इसलिए मुसलमान कभी इस देश के वफ़ादार नहीं हो सकते।

मैं कहूँगा कि यह एक मानवीय मामला है और इसका संबंध हिंदू और मुसलमान दोनों से है। जैसे एक हिंदू अगर सोमनाथ के मंदिर से आस्था रखता है तो इसका मतलब यह नहीं कि वह अयोध्या के मंदिर का आस्थावान नहीं हो सकता। एक हिंदू के दिल में अगर अपनी माँ से मुहब्बत हो तो इसका मतलब यह नहीं कि उसका दिल बाप की मुहब्बत से ख़ाली होगा।

यही मामला मुसलमान का भी है। मुसलमान अगर मक्का और मदीना से हार्दिक लगाव रखता हो तो इसका मतलब यह नहीं कि उसे भारत से दिली लगाव न होगा। हक़ीक़त यह है कि इस प्रकार की सोच इंसान का अल्प आकलन (underestimation) है। कोई व्यक्ति हिंदू हो या मुसलमान दोनों हालतों में वह प्रकृति का एक प्रकटीकरण है और प्रकृति ने जो इंसान पैदा किया है, उसके अंदर इतनी विशालता मौजूद है कि वह एक ही समय कई मुहब्बतों और वफ़ादारियों को समान रूप से अपने दिल में जगह दे सके।

यह एक ऐसी प्राकृतिक हक़ीक़त है जिसका अनुभव हर इंसान कर रहा है। हर स्त्री और पुरुष स्वयं अपने निजि अनुभव के अंतर्गत इसे जानते हैं। इस प्राकृतिक सत्यता को एक पश्चिमी विचारक ने इस प्रकार बताया है—

मैं इतना विशाल हूँ कि सारी विपरीतताओं को अपने अंदर समाँ सकूँ।

I am large enough to contain all these contradictions.

धर्म और राजनीति

सांप्रदायिक झगड़ों में अक्सर धर्म का नाम प्रयोग किया जाता है। बार-बार ऐसा होता है कि कोई राजनीतिक या क़ौमी चीज़ धार्मिक विवाद बन जाती है और तेज़ी से लोगों की भावनाएँ भड़क उठती हैं, जो भिन्न वर्गों के बीच हिसांत्मक टकराव का कारण बन जाती हैं। इसी कारण बहुत से लोग स्वयं धर्म के विरोधी बन गए हैं। उनका कहना है कि इंसान को धर्म की आवश्यकता नहीं,

इसलिए धर्म का ख़ात्मा कर देना चाहिए। धर्म को समाप्त करे बिना सामाजिक एकता संभव नहीं, मगर यह एक अतिवाद के उत्तर में दूसरा अतिवाद है। यह धार्मिक अतिवादिता का मुक़ाबला धर्मनिरपेक्ष अतिवादिता से करना है, जो न तो संभव है और न फ़ायदेमंद। असल यह है कि धर्म अपने आपमें स्वयं कोई समस्या नहीं। धर्म इंसानी जीवन का एक स्वस्थ अंश है। जो चीज़ समस्या है, वह कुछ स्वार्थी लोगों की ओर से धर्म का राजनीतिक शोषण (exploitation) है। इसलिए असल काम शोषण को समाप्त करना है, न कि स्वयं धर्म को।

धर्म के दो भाग हैं— व्यक्तिगत और सामूहिक। धर्म के व्यक्तिगत भाग से तात्पर्य आस्था, उपासना, आचरण और आध्यात्मिकता है और सामूहिक भाग से अभिप्राय उसके राजनीतिक और सामाजिक आदेश है। इस मामले में सही तरीक़ा यह है कि सामान्य परिस्थितियों में केवल धर्म के व्यक्तिगत भाग पर बल दिया जाए। सारा ध्यान धर्म की रूह (spirit) को ज़िंदा करने पर लगाया जाए।

जहाँ तक धर्म के सामाजिक और राजनीतिक आदेशों का मामला है, उसे उस समय तक न छेड़ा जाए, जब तक पूरा समाज उसके लिए तैयार न हो। सामाजिक और राजनीतिक आदेश पूरे समाज की सामूहिक सहमति से स्थापित हो सकते हैं। इसलिए ऐसे आदेशों के मामले में किसी व्यावहारिक अग्रसरता से उस समय तक बचना चाहिए, जब तक पूरे समाज का सामूहिक इरादा उसके अनुकूल न हो जाए।

इस मामले को धर्म और राजनीति के बीच व्यावहारिक भेद कहा जा सकता है अर्थात सैद्धांतिक रूप से राजनीति को धर्म का हिस्सा मानना, लेकिन वास्तविकताओं के आधार पर राजनीतिक आदेशों को लागू करने को विलंबित या स्थगित कर दिया जाए। इसी का नाम नीति या समझदारी (wisdom) है। इस नीति का यह लाभ है कि धर्म और राजनीति दोनों की माँग पूरी हो जाती है। धर्म की माँग वर्तमान में और राजनीति की माँग भविष्य में। इसके विपरीत अगर इस नीति का लिहाज़ न रखा जाए और दोनों पक्षों को एक साथ उभार दिया जाए तो परिणाम यह होगा कि धार्मिक माँगें और राजनीतिक माँगें दोनों ही पूरी होने से रह जाएँगी।

उत्तरी भारत व दक्षिणी भारत का अंतर

सांप्रदायिक एकता का प्रश्न बुनियादी रूप से उत्तरी भारत का प्रश्न है। दक्षिणी भारत में आज भी सांप्रदायिक एकता पूरी तरह पाई जाती है। सांप्रदायिक एकता, राष्ट्रीय एकता के नाम से हम जैसा समाज बनाना चाहते हैं, वह समाज इस समय भी दक्षिण भारत में मौजूद है। जैसा कि ज्ञात है, सांप्रदायिक झगड़ों की लगभग समस्त घटनाएँ उत्तरी भारत के इलाक़े में होती हैं। जहाँ तक दक्षिणी भारत का संबंध है, वहाँ सांप्रदायिक झगड़े इतने कम हैं कि वे किसी गिनती में नहीं आते। मैं समझता हूँ कि इस अंतर का अध्ययन हमारे लिए एक मार्गदर्शक अध्ययन बन सकता है।

इसके अतिरिक्त स्वयं उत्तरी भारत के भी दो भाग हैं— एक शहरी क्षेत्र और दूसरे ग्रामीण क्षेत्र। घटनाएँ बताती हैं कि ज़्यादातर सांप्रदायिक झगड़े शहरों में हुए हैं या होते हैं। जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों का संबंध है, वहाँ पर कभी-कभार ही इस प्रकार की कोई घटना पेश आती है। इस अंतर का अध्ययन भी अति महत्त्वपूर्ण है। इससे हमें न केवल घटनाओं के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है, बल्कि यह निर्णय करना भी आसान हो जाता है कि सांप्रदायिक विवादों को समाप्त करके सांप्रदायिक एकता का वातावरण पैदा करना इन उपायों के द्वारा संभव है।

राष्ट्रीय एकता के सिलसिले में हिंदुओं की कुछ आस्थाएँ हैं, जिनसे मुसलमानों को शिकायत है। यहाँ मैं इन पर बहस नहीं करूँगा। इस मामले में मेरा सुझाव मुसलमानों को यह है कि वे इस्लामी नियम के अनुसार उपेक्षा और सहनशीलता (avoidance and tolerance) का तरीक़ा धारण करें, लेकिन कुछ शिकायतें या भ्रांतियाँ हिंदुओं को मुसलमानों के बारे में हैं। यहाँ मैं इस दूसरे मामले की कुछ स्पष्टता करना चाहता हूँ और कुछ इस्लामी परिभाषाओं की व्याख्या करना चाहता हूँ, जो दोनों वर्गों के बीच ग़लतफ़हमी का कारण है या कारण बन सकती है।

यहाँ मैं इस संबंध में एक बात कहूँगा कि हमारे यहाँ सामान्य परंपरा यह है कि मुसलमान कोई ग़लती करें तो हिंदू इसके ख़िलाफ़ लिखते और बोलते हैं और इसी प्रकार हिंदू कोई ग़लती करें तो मुसलमान उसके ख़िलाफ़ लिखते और बोलते हैं। यह तरीक़ा सुधार के संदर्भ से बिल्कुल बेफ़ायदा है। ऐसी बातों को

एक पक्ष अपनी वक़ालत समझकर ख़ुश होगा, मगर दूसरा पक्ष उससे कोई सकारात्मक प्रभाव न लेगा।

इसके विपरीत फ़ायदेमंद तरीक़ा यह है कि मुसलमान ग़लती करें तो स्वयं मुसलमानों के विद्वान और बुद्धिजीवी इसके ख़िलाफ़ बोलें और लिखें। इसी तरह हिंदू अगर कोई ग़लती करें तो हिंदुओं के ज़िम्मेदार इसके ख़िलाफ़ लिखें और बोलें। ठीक इसी तरह, जैसे किसी घर का लड़का अगर ग़लती करे तो सबसे पहले उसका अपना पिता इसकी ताड़ना करता है। पिता इसकी प्रतीक्षा नहीं करता कि मोहल्ले के लोग आकर उसके ख़िलाफ़ बोलें और अगर मोहल्ले के लोग आकर इसके ख़िलाफ़ बोलें तो बच्चे पर इसका कोई प्रभाव न होगा।

यह एक मनोवैज्ञानिक हक़ीक़त है कि अपनों की डाँट-डपट को आदमी सकारात्मक ज़हन से सुनता है और अपना सुधार करता है। इसके विपरीत दूसरे की चेतावनी को वह अपनी प्रतिष्ठा का मामला बना लेता है। वह इसका कोई सकारात्मक प्रभाव स्वीकार नहीं करता। सांप्रदायिक एकता के सिलसिले में इस कूटनीति का सम्मान करना बहुत आवश्यक है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

इस सिलसिले में कुछ इस्लामी परिभाषाएँ हैं, जिनकी स्पष्टता ज़रूरी है। इन परिभाषाओं का सही भावार्थ मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम के बीच एकता और सहमति पैदा करता है और इन परिभाषाओं का ग़लत भावार्थ उल्टा दोनों के बीच दूरी का कारण बन जाता है।

इनमें से एक राष्ट्रीयता (nationality) का मामला है। क़ुरआन से मालूम होता है कि हर पैग़ंबर ने अपने समुदाय में एकेश्वरवाद को अस्वीकार करने वालों को 'ऐ मेरी क़ौम' के शब्द से संबोधित किया है। इस क़ुरआनी बयान के अनुसार, मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान की क़ौमियत मतलब जातीयता एक होती है। हक़ीक़त यह है कि राष्ट्रीयता का संबंध धर्म से नहीं है, बल्कि वतन से है। धार्मिक भागीदारी को बताने के लिए 'मिल्लत' का शब्द बोला जाएगा और राष्ट्रीय भागीदारी को बताने के लिए 'क़ौम' का शब्द। मौजूदा ज़माने में वतन (home land) को राष्ट्रीयता की बुनियाद समझा जाता है। इस्लाम का नियम भी यही है। इस्लाम के अनुसार भी वतन ही राष्ट्रीयता की बुनियाद है।

इस दृष्टि से 'टू नेशन थ्योरी' एक ग़ैर-इस्लामी सिद्धांत है। टू नेशन थ्योरी मुसलमानों में यह मानसिकता पैदा करती है कि हम अलग समुदाय से हैं और दूसरे लोग अलग समुदाय से। जबकि सही इस्लामी मानसिकता यह है कि मुसलमान अपने आपको और दूसरों को एक ही समुदाय का समझें। वे दूसरों को 'ऐ मेरी क़ौम के लोगो' कहकर संबोधित कर सकें, जैसा कि सभी पैग़ंबरों ने किया। क़ुरआन में बताया गया है— "ऐ लोगो ! हमने तुम्हें एक मर्द और एक औरत से पैदा किया और तुम्हें क़ौमों (शऊब) और क़बीलों में विभाजित कर दिया, ताकि तुम एक-दूसरे को पहचानो" (49:13)। इस आयत में शऊब से तात्पर्य वतनी साझेदारी से बनने वाली क़ौम है और क़बीले से तात्पर्य नस्ली भागेदारी से बनने वाला गिरोह। क़ुरआन के अनुसार, यह दोनों प्रकार की गिरोहबंदी पहचान के लिए है, वह आस्था या धर्म के संबंध को बताने के लिए नहीं।

1947 से पहले के दौर में मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने कहा था, "मौजूदा ज़माने में क़ौमें वतन (राष्ट्र) से बनती हैं।" मौलाना महोदय का यह बयान बजाय ख़ुद उचित था, मगर मैं समझता हूँ कि उसमें मौजूदा ज़माने की शर्त दुरुस्त न थी। हक़ीक़त यह है कि क़ौम हमेशा वतन की बुनियाद पर ही बनती है। मौजूदा ज़माने में केवल यह हुआ है कि दूसरी बहुत-सी चीज़ों की तरह इस मामले में भी निर्धारण और पहचान के लिए आधुनिक तरीक़े इस्तेमाल किए गए हैं। जैसे पासपोर्ट में राष्ट्रीयता का अंकन, जबकि पहले पासपोर्ट न था। अंतर्राष्ट्रीय अधिकारों के निर्धारण के लिए राष्ट्रीयता की क़ानूनी परिभाषा। राष्ट्र के संबंध में किसी क़ौम के लोगों के अधिकारों को क़ानूनी भाषा में लिख देना आदि। यह कहना सही होगा कि क़ौम शब्द मौजूदा ज़माने में भी असल में इसी अर्थ में बोला जाता है, जिस अर्थ में वह पुराने ज़माने में बोला जाता था, केवल इस अंतर के साथ कि पहले वह संक्षिप्त भावार्थ में बोला जाता था और अब वह विस्तृत भावार्थ में इस्तेमाल होता है।

कुछ लोग क़ौमियत की व्याख्या कट्टरपंथ शैली (extremism) में करते हैं, यहाँ तक कि वे क़ौमियत को धर्म के अर्थ के समान बना देते हैं, मगर यह एक सैद्धांतिक कट्टरपन (ideological extremism) है। इस प्रकार की कट्टरपंथी के उदाहरण इस्लाम धर्म की और चीज़ों में भी पाए जातें हैं। जैसे मौजूदा ज़माने में कुछ मुस्लिम विचारकों ने इस्लाम की व्याख्या ऐसी कट्टरपंथ

शैली में की कि इस्लाम के अतिरिक्त हर व्यवस्था को शैतानी व्यवस्था घोषित कर दिया गया। किसी मुसलमान के लिए इस शैतानी व्यवस्था में सम्मिलित होकर रहना हराम (अवैध) क़रार दे दिया गया, यहाँ तक कि इस परिकल्पित शैतानी व्यवस्था में शिक्षा प्राप्त करना, सरकारी नौकरी करना, वोट देना, विवादों के क़ानूनी फ़ैसले के लिए देश की अदालत से प्रवृत्त होना— सब-का-सब हराम घोषित कर दिया गया।

शैतानी व्यवस्था का यह सिद्धांत कुछ लोगों की कट्टरपंथी सोच की पैदावार था। उसका ईश्वर और उसके पैग़ंबर वाले इस्लाम से कोई संबंध नहीं। यही कारण है कि वास्तविकताओं ने इस दृष्टिकोण से जुड़े लोगों को विवश किया कि वे लोग अपने व्यावहारिक जीवन में इस दृष्टिकोण पर अमल (action) को छोड़ दें। इसलिए अब इन सब लोगों ने बिना घोषणा के व्यावहारिक रूप से इस कट्टरपंथी सोच को छोड़ दिया है।

यही मामला राष्ट्रीयता का भी है। पश्चिम के कुछ कट्टरपंथी विचारकों ने राष्ट्रीयता का विस्तार करके संपूर्ण धर्म के रूप में पेश किया है, मगर सच्चाई की चट्टान से टकराकर यह दृष्टिकोण भी टूटकर समाप्त हो गया। अब व्यावहारिक रूप से राष्ट्रीयता की कल्पना लगभग इसी स्वाभाविक अर्थ में की जाती है, जिस स्वाभाविक अर्थ में उसका क़ुरआन के अंदर प्रयोग किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के पहले अर्धशतक में उठने वाले मुस्लिम मार्गदर्शक इस भेद को न समझ सके। उन्होंने क़ौमियत (राष्ट्रीयता) के मामले में इस अस्वाभाविक (unnatural) कट्टरपंथी को असल समझ लिया और इस आधार पर उसके ग़ैर-इस्लामी होने की घोषणा कर दी। इसका एक उदाहरण प्रसिद्ध मुस्लिम शायर 'इक़बाल' (देहांत : 1938) का है। उन्होंने राष्ट्रीयता के इस कट्टरपंथी सामयिक विचार को वास्तविक समझकर उसके बारे में यह पंक्तियाँ कहीं थी—

"इन ताज़ा ख़ुदाओं में बड़ा सबसे वतन है
जो पैराहन इसका है वो मज़हब का कफ़न है"

राष्ट्रीयता के बारे में यह सिद्धांत निःसंदेह आधारहीन है। अजीब बात यह है कि उस दौर के अक्सर मुस्लिम विद्वानों और बुद्धिजीवियों ने राजनीतिक प्रकार की चीज़ों को धर्म या इस्लाम के लिए जीवन-मरण की समस्या समझ लिया। हालाँकि कोई भी राजनीतिक उतार-चढ़ाव इस्लाम धर्म की अनंतता

(eternity) के लिए चुनौती नहीं बन सकता। जैसे बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में तुर्की की उस्मानी सल्तनत टूटी तो प्रसिद्ध इस्लामी विद्वान शिबली नोमानी ने यह छंद कहा—

ज़वाल-ए-दौलत-ए-उस्मान ज़वाल-ए-शरअ व मिल्लत है
अज़ीज़-ओ-फ़िक्र-ए-फ़रज़ंद-ओ-अयाल-ओ-ख़ानमा कब तक।

यह विचार निश्चित रूप से आधारहीन है कि किसी राज्य का टूटना मुसलमान व इस्लाम के लिए पतन के अर्थ के समान है। ऐसा न कभी हुआ है और न ऐसा कभी हो सकता। पहले दौर में ख़िलाफ़त-ए-राशिदा* ख़त्म हुई, मगर इस्लाम का शांतिपूर्ण विस्तार निरंतर जारी रहा। इसके बाद उमवी सल्तनत (Umayyad Dynasty) का पतन हुआ। तब भी इस्लाम की यात्रा यथावत जारी रही। इसके बाद अब्बासी सल्तनत ख़त्म हुई, स्पेन की मुस्लिम सल्तनत ख़त्म हुई, मिस्र की फ़ातमी सल्तनत ख़त्म हुई, भारत की मुग़ल सल्तनत ख़त्म हुई, मगर सल्तनतों का यह पतन इस्लाम के पतन का कारण न बन सका।

इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में कई कट्टरपंथी विचारधाराएँ उभरीं, जैसे—कम्युनिज़्म, नाज़ी इज़्मऔर नेशनलिज़्म आदि, मगर इन सबका परिणाम यह हुआ कि प्रकृति का क़ानून उनके कट्टरपंथी तत्त्व को निरस्त करता रहा और अंततः जो चीज़ बची, वह वही थी जो प्रकृति के नियम के अनुसार वांछित थी। प्रकृति का अनादि क़ानून हर चीज़ से ऊपर है। प्रकृति का क़ानून अपने आप यह करता है कि वह असंतुलित विचारों को निरस्त करके उन्हें जीवन के क्षेत्र से हटा देता है और उनके स्थान पर संतुलित विचारों को काम करने का अवसर देता है।

कुफ़्र और काफ़िर की कल्पना

इसी प्रकार इस मामले में एक संबंधित परिभाषा कुफ़्र की है। कुछ लोगों का कहना है कि मुसलमानों में कुफ़्र और काफ़िर का जो विचार पाया जाता है, वह राष्ट्रीय एकता के रास्ते में स्थायी बाधा है, मगर यह विचार ग़लतफ़हमी पर आधारित है। इसका क़ुरआन से कोई संबंध नहीं।

* हज़रत मुहम्मद के पहले चार उत्तराधिकारियों का समय एवं उनकी कार्य-प्रणाली।

कुफ़्र का शाब्दिक अर्थ इनकार (denial) होता है और काफ़िर का मतलब है इनकार करने वाला। यह दोनों शब्द क़ुरआन में पैग़ंबर के संदर्भ में बोले गए हैं, वह आम लोगों के संदर्भ में नहीं बोले गए। इसके अतिरिक्त कुफ़्र या काफ़िर एक व्यक्तिगत चरित्र है। वह किसी गिरोह का नस्ली या विरासती नाम नहीं। कुफ़्र की पुष्टि किसी के बारे में उस समय होती है, जबकि उसके ऊपर पैग़ंबराना प्रकार की दावत दी जाए और उसे आख़िरी हद तक पहुँचा दिया जाए और कोई तर्क शेष न रहे, जिसे 'इत्माम-ए-हुज्जत' कहा जाता है। इस प्रकार के पैग़ंबराना निमंत्रण के बिना किसी के बारे में यह कहना दुरुस्त नहीं कि उसने कुफ़्र या इनकार का काम किया है।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति या लोगों के समूह के बारे में नियुक्त या व्यक्तिगत रूप से यह घोषणा करना कि वे काफ़िर हो चुके हैं, आम लोगों के लिए उचित नहीं। कुफ़्र का संबंध हक़ीक़त में नीयत (intention) से है और नियत केवल ईश्वर को मालूम है। इसलिए नियुक्त या निर्धारित रूप से किसी के बारे में यह घोषणा करना कि वह काफ़िर हो गया है, यह सिर्फ़ ईश्वर का काम है या ईश्वर के दिए हुए ज्ञान के आधार पर पैग़ंबर का। अतः क़ुरआन में केवल एक ऐसा उल्लेख है, जबकि पुराने ज़माने के कुछ लोगों को निर्धारित रूप से काफ़िर क़रार देकर कहा गया— "कहो, ऐ काफ़िरो !" (109:1)

इस अंदाज़ का व्यक्तिगत संबोधन क़ुरआन में किसी दूसरे गिरोह के लिए नहीं आया है अर्थात क़ुरआन में इस एक अपवाद को छोड़कर कुफ़्र का ज़िक्र तो है, मगर निर्धारित रूप से किसी को काफ़िर का दर्जा नहीं दिया गया।

दारुल हर्ब की परिभाषा

'दारुल हर्ब'* की परिभाषा अब्बासी दौर में बनने वाली फ़िक़्ह में ज़रूर इस्तेमाल हुई है, मगर इस परिभाषा का क़ुरआन और हदीस में वर्णन नहीं। यह अंतर स्पष्ट करता है कि दारुल हर्ब की परिभाषा एक इज्तिहादी** परिभाषा है,

---

* वह देश जिनसे किसी मुस्लिम देश की संधि नहीं है और उनसे जंग करना वैध है।

** जहाँ क़ुरआन और हदीस से कोई मामला स्पष्ट न हो पाए, वहाँ अपनी राय से उचित रास्ता निकालना।

इस परिभाषा का क़ुरआन और हदीस में कोई वर्णन नहीं और जो दृष्टिकोण इज्तिहादी हो, उसके बारे में हदीस से यह साबित है कि वह सही भी हो सकता है और ग़लत भी।

मेरे निकट दारुल हर्ब एक इज्तिहादी ग़लती है। पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ज़माने में हर प्रकार की घटनाएँ पेश आईं, मगर आपने किसी भी इलाक़े को दारुल हर्ब क़रार नहीं दिया। अगर क़ुरआन व सुन्नत में इज्तिहाद करके इस सिलसिले में कोई परिभाषा बनाई जाए तो वह केवल एक होगी और वह दारुल दावह* है। यही इस्लामी रूह के अनुसार है। इस्लाम हर क़ौम को आमंत्रित की दृष्टि से देखता है, चाहे इस्लाम के अनुयायियों का संबंध उनसे शांति का हो या लड़ाई का। इसलिए सही इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार, केवल दो परिभाषाएँ सही हैं— दारुल इस्लाम ** और दारुल दावह। इसके अतिरिक्त जो भी परिभाषाएँ बोली गई हैं, वह सब मेरे निकट इज्तिहादी ख़ता का दर्जा रखती हैं, जैसे— दारुल हर्ब, दारुल कुफ़्र, दारुल ताग़ूत आदि।

जिहाद की कल्पना

कुछ मुसलमानों की ग़लत व्याख्या के नतीजे में जिहाद का विचार यह बन गया है कि जिहाद का मतलब सुधारवादी जंग है। इन लोगों का यह कहना है कि मुसलमान दुनिया में ईश्वर के उत्तराधिकारी हैं। मुसलमानों की यह ज़िम्मेदारी है कि वे ईश्वर के प्रतिनिधित्व में ईश्वर का राज्य दुनिया में स्थापित करें। वे ईश्वर की तरफ़ से लोगों को ईश्वर के आदेशों का पाबंद बनाएँ। उनके निकट इस लड़ाई का नाम जिहाद है। जिहाद की यह कल्पना निःसंदेह निराधार है। क़ुरआन व सुन्नत से इसका कोई संबंध नहीं।

सुधार के लिए की गई जंग अपने परिणाम की दृष्टि से उपद्रव है। सामूहिक जीवन में शांतिपूर्ण विचारों के इज़हार का अधिकार तो हर एक को है, लेकिन शक्ति का प्रयोग करके सुधार करने का दृष्टिकोण विभिन्न समुदायों के जीवन में स्वीकार्य नहीं है। सामूहिक या अंतर्राष्ट्रीय जीवन में कोई गिरोह अपने लिए ऐसा

* इस्लाम के मानने वालों का घर।

** इस्लाम से परिचित होने वालों का घर।

अधिकार नहीं ले सकता, जिसे वह दूसरों को देने के लिए तैयार न हो। अगर एक गिरोह अपने लिए सुधारवादी जंग का अधिकार लेना चाहे तो निश्चित रूप से इसे दूसरों को भी सुधारवादी जंग का यह अधिकार देना होगा। इसका परिणाम यह होगा कि हर गिरोह या दल स्वयं-रचित सुधार के नाम पर दूसरों से जंग आरंभ कर देगा। इसके नतीजे में सुधार तो न होगा, लेकिन इसके कारण एक ऐसा उपद्रव उत्पन्न होगा जो कभी समाप्त न हो।

हक़ीक़त यह है कि जंग का जायज़ रूप केवल एक है और वह सुरक्षा है। अगर एक राज्य अपनी भौगोलिक सीमा से आगे बढ़कर दूसरे राज्य पर हमला कर दे तो ऐसी स्थिति में जिस पर हमला हुआ है, उसे अपने बचाव में जवाबी जंग का अधिकार प्राप्त है। इस एक स्थिति के सिवा किसी और स्थिति में जंग का कोई औचित्य नहीं। यह सामूहिक नियम इस्लाम में भी इसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार वह दूसरी व्यवस्थाओं में स्वीकार्य है। इस सामूहिक नियम के मामले में इस्लाम और ग़ैर-इस्लाम के बीच कोई अंतर नहीं।

इस सिलसिले में एक मामला वह है, जो इतिहास से संबंध रखता है। पिछला ज़माना राजशाही का ज़माना था। सारी दुनिया में हर जगह कुछ ख़ानदान राज्य करते थे। उस ज़माने में राजा का यह अधिकार समझा जाता था कि वह क़ानून से ऊपर है और वह जो चाहे करे। इस आधार पर प्राचीन राजशाही ज़माने में हर राजा ने ऐसे काम किए, जो नैतिक या क़ानूनी ऐतबार से उचित न थे। पुराने ज़माने में मुस्लिम राजाओं ने भी ऐसा ही किया, जैसे महमूद गज़नवी ने सोमनाथ के हिंदू मंदिर को ढहाया और उसके सोने के ख़ज़ाने को लूटा। इसी प्रकार कहा जाता है कि औरंगज़ेब ने बनारस के एक हिंदू मंदिर को ढहाया और उसी स्थान पर मस्जिद का निर्माण किया आदि।

राजाओं की ओर से इस प्रकार की घटनाएँ प्राचीन काल में हर देश में हुईं, मगर वे केवल प्राचीन इतिहास का हिस्सा बनकर रह गए। वे बाद के ज़माने में दो समुदायों के बीच स्थायी विवाद का कारण न बन सके। केवल भारत में ऐसा हुआ कि इस प्रकार की घटनाएँ यहाँ के हिंदू और मुसलमानों के बीच स्थायी रूप से कटुता का कारण बन गईं। इसके नतीजे में सांप्रदायिक दंगे बार-बार हुए। वे राष्ट्रीय एकता का वातावरण स्थापित करने के मार्ग में स्थायी बाधा बन गए।

मेरे निकट इस अपवादिक परिस्थिति का बुनियादी कारण यह है कि

मुस्लिम विद्वान और बुद्धिजीवियों ने भारत के मुस्लिम राज्यों को इस्लामी राज्य का नाम दे दिया। वे इसे इस्लाम के इतिहास का एक अध्याय समझने लगे, हालाँकि इन राज्यों की हैसियत केवल कुछ मुस्लिम ख़ानदानों के राज्य (राजवंश) की थी। उन्हें सैद्धांतिक ऐतबार से इस्लामिक राज्य बताना सही न था। इस अंतर को दृष्टिगत न रखने के आधार पर ऐसा हुआ कि जो घटनाएँ एक विशेष मुस्लिम ख़ानदान के शासन से संबंध रखती थीं, वे इस्लाम के नाम के साथ जुड़ गईं।

इस अंतर को दृष्टिगत न रखने की वजह से यह गंभीर ग़लती हुई कि मुसलमान इन शासकों के शासन काल को अपने लिए इस्लामी गर्व के रूप में लेने लगे, वे उसे इस्लामी प्रभुत्व का प्रतीक समझने लगे। दूसरी ओर हिंदुओं में यह विचार पैदा हुआ, जिसे 'ऐतिहासिक ग़लतियों (historical wrong) का सुधार' कहा जाता है। इसका परिणाम निश्चित रूप से पारस्परिक कटुता के रूप में निकला। मुसलमानों ने जब इसे अपना गर्व बनाया तो विवेकी या अविवेकी रूप से वह उनके धार्मिक इतिहास का एक पुनीत अंश (sacred part) बन गया और दूसरी ओर हिंदुओं ने उसे ऐतिहासिक ग़लती समझकर उसके सुधार का प्रयास आरंभ कर दिया।

मेरे निकट इस मामले में दोनों पक्ष ग़लती कर रहे हैं। मुसलमानों की ग़लती यह है कि वे इस इतिहास को धार्मिक हैसियत देने के आधार पर उस पर पुनः निरीक्षण के लिए तैयार नहीं होते और दूसरी ओर हिंदुओं की ग़लती यह है कि वे बीते इतिहास को भूलने के लिए तैयार नहीं। वे अतीत की ग़लतियों का सुधार करने का आग्रह कर रहे हैं, चाहे उसके नतीजे में वर्तमान की संभावनाएँ बरबाद होकर रह जाएँ।

मेरे निकट इस मामले में दोनों पक्षों को यथार्थवादी बनना चाहिए। मुसलमानों को चाहिए कि वे पिछले मुस्लिम राजाओं को इस्लामी शासक का दर्जा न दें, बल्कि उनके राज्य को केवल एक ख़ानदानी राजशाही (dynasty monarchy) क़रार दें। वे इन मुस्लिम राजाओं की ग़ैर-इस्लामी व अनैतिक कार्यवाहियों का इनकार (disown) करें, खुले रूप से उनकी निंदा करें, चाहे वह महमूद ग़ज़नवी हो या औरंगज़ेब या कोई और।

दूसरी तरफ़ हिंदुओं को चाहिए कि वे 'जो गुज़र गया है, वह गुज़र गया' (let bygone be bygone) के नियम पर अतीत को भुला दें। वे इस मामले में

भावुक तरीक़े को छोड़कर यथार्थवादी शैली धारण करें। हिंदुओं को जानना चाहिए कि ऐतिहासिक ग़लतियाँ हमेशा हुई हैं, मगर कोई भी कभी ऐतिहासिक ग़लतियों का सुधार न कर सका। ऐतिहासिक ग़लतियों को सुधारने की विचारधारा निःसंदेह समझदारी का काम नहीं है। यह अतीत को सुधारने के नाम पर वर्तमान का विनाश है। यह प्रकृति के नियम के ख़िलाफ़ है। ऐसे लोग अतीत को पाने के नाम पर अपने वर्तमान और भविष्य को खो देते हैं।

दुर्भाग्य से भारत के पक्ष में यह बात पूरी तरह एक हक़ीक़त बन गई है। जिन देशों ने अपने अतीत को भुलाकर अपने वर्तमान का निर्माण करना चाहा, उन्होंने ज़बरदस्त सफलता प्राप्त की। इसका एक उदाहरण जापान है। जापान ने अमेरिका की ग़लतियों को सुधारने का प्रयास नहीं किया, इसका नतीजा यह हुआ कि जापान आज एक आर्थिक महाशक्ति बना हुआ है। दूसरा उदाहरण भारत का है। भारत में अतीत की ग़लतियों का सुधार करने का प्रयास किया गया। नतीजा यह हुआ कि भारत एक पिछड़ा हुआ देश बनकर रह गया।

राष्ट्रीय उन्नति के लिए अनिवार्य शर्त यह है कि राष्ट्रीय उन्नति को असल बनाया जाए और शेष समस्त चीज़ों को दूसरी श्रेणी की हैसियत दी जाए। लोगों में यह सोची-समझी मानसिकता मौजूद हो कि असल महत्ता की चीज़ यह है कि राष्ट्रीय उन्नति का काम किसी रुकावट के बिना जारी रहे। इसके अतिरिक्त जो भावनात्मक समस्याएँ और जो निजि अपेक्षाएँ हैं, वह अगर राष्ट्रीय प्रगति के काम में रुकावट डाले बिना हासिल होती हों तो ठीक, अन्यथा हमें स्वीकार नहीं। यही अकेला तरीक़ा है जिसका अनुसरण करके देश को वास्तविक अर्थों में तरक़्क़ी दी जा सकती है, इसके बिना शांति संभव नहीं।

एक प्रसिद्ध क़िस्सा है। एक क़ाज़ी (न्यायधीश) के पास एक केस आया। एक नवजात बालक था और दो औरतें दावा कर रही थीं कि वह उसकी माँ हैं और इस बालक को उनके हवाले कर देना चाहिए, मगर दोनों के पास कोई क़ानूनी सबूत न था। यह क़ाज़ी के लिए बड़ी परीक्षा थी। आख़िरकार उसने यह आदेश दिया कि बालक के शरीर को बीच में से काटकर दो टुकड़े कर दिए जाएँ और फिर उसका एक टुकड़ा एक औरत को दिया जाए और उसका दूसरा टुकड़ा दूसरी औरत को दिया जाए।

क़ाज़ी ने जब यह आदेश सुनाया तो जो औरत बच्चे की माँ होने कि झूठी दावेदार थी, उस पर इसका कोई असर नहीं हुआ, मगर जो औरत बच्चे

की असल माँ थी तो वह चीख़ उठी। उसने कहा कि बच्चे को मत काटो, उसे तुम दूसरी औरत के हवाले कर दो। यही मुहब्बत का असल मापदंड है। जिन लोगों को देश से असल मुहब्बत है, उन्हें चिल्लाकर कहना चाहिए कि हम देश की तबाही को नहीं देख सकते। पिछले इतिहास में जो कुछ हुआ, उसे हम भुलाते हैं, ताकि वर्तमान अवसरों को भरपूर तौर पर इस्तेमाल किया जा सके और देश का एक नवीन भविष्य पैदा किया जा सके। राष्ट्रीय जीवन में अमन और एकता का नियम केवल सहनशीलता (tolerance) के आधार पर है। यह प्रकृति का नियम है कि विभिन्न लोगों और विभिन्न गिरोहों के बीच मतभेद पैदा हों। अंतर और मतभेद जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। इसलिए सांप्रदायिक जीवन में संतुलन का वातावरण अंतर और मतभेद को मिटाकर स्थापित नहीं किया जा सकता। यह उद्देश्य जब भी प्राप्त होगा तो सहनशीलता और धैर्य के आधार पर होगा।

हक़ीक़त यह है कि मतभेद को मिटाने का प्रयास किसी इंसानी गिरोह के ख़िलाफ़ नहीं है, बल्कि वह प्रकृति के कायनाती क़ानून के ख़िलाफ़ है। कोई भी व्यक्ति या गिरोह इतना शक्तिशाली नहीं कि वह प्रकृति से लड़कर जीत सके। इसलिए हक़ीक़तपसंदी की माँग यह है कि इस मामले में सहनशीलता के नियम को अपनाया जाए, न कि टकराव के नियम को। मतभेद को स्वीकार करो, ताकि एकता क़ायम हो, क्योंकि मतभेद को मिटाकर एकता स्थापित करने की योजना तो सिरे से संभव ही नहीं।

हाईजैकिंग एक अपराध

हाईजैकिंग निःसंदेह एक हराम (वर्जित) काम है। इसे जिस पक्ष से भी देखा जाए, निश्चित रूप से वह इस्लामी क़ानून की दृष्टि से अवैध और निषिद्ध है और इंसानी ऐतबार से अपराध क़रार पाएगा। हाईजैकिंग को जायज़ साबित करना केवल अपराध के ऊपर विद्रोह की वृद्धि है। हाईजैकिंग एक ऐसा अपराध है जिसमें एक ही समय कई गंभीर अपराध शामिल हो जाते हैं— राहज़नी (highway robbery), बंधक (hostage) बनाना, अकारण क़त्ल करना, धोखे की जंग, किसी की संपत्ति को क़ब्ज़ा लेना और उसे हानि पहुँचाना।

1. राहज़नी क्या है? राहज़नी यह है कि किसी आदमी को रास्ते में कमज़ोर (vulnerable) हालत में पाकर उस पर हमला करना और उसे जानी और माली नुक़सान पहुँचाना। पहले ज़माने में राहज़नी की परंपरा थी। इसके बाद समुद्री डकैती (piracy) की जाने लगी। अब मौजूदा ज़माने में हाईजैकिंग शुरू हो गई है। राहज़नी की यह समस्त क़िस्में इस्लाम में एक समान रूप से अवैध-निषिद्ध हैं। जो व्यक्ति या गिरोह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार का काम करे, वह निःसंदेह बड़ा पापी है और ईश्वर के यहाँ उसके लिए उसी परिणाम का डर है, जो इस्लाम में और किसी अवैध और हराम काम को करने वालों के लिए भाग्य है। यहाँ तक कि वह प्रायश्चित करे और घोषणा के साथ संबंधित लोगों से अपने अपराध की माफ़ी माँगे। इसी के साथ वह उस नुक़सान की भरपाई करेगा, जो उसने हाईजैकिंग के द्वारा किसी को पहुँचाया हो।

2. बंधक बनाना यह है कि अपनी कुछ माँगों के लिए मौक़ा पाकर मासूम लोगों को पकड़ना और फिर सौदेबाज़ी करना। बंधक बनाने की यह परंपरा पुराने ज़माने में भी थी, लेकिन मौजूदा ज़माने में अब इसने विधिवत कला की दशा धारण कर ली है। इस प्रकार का काम निःसंदेह बड़ा पाप भी है और कायरता भी। यह बात इस्लाम में सरासर हराम है कि आपको किसी से शिकायत हो और आप इसका बदला किसी और से लें। किसी भी कारणवश किसी मासूम जान

को सताना इस्लाम में हरगिज़ जायज़ नहीं।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने हुदैबिया के नाम से जो संधि की थी, इससे और ज़्यादा साबित होता है कि अगर दूसरा पक्ष हमारे किसी आदमी को बंधक बना ले, तब भी हमें दूसरे पक्ष के आदमी को बंधक बनाना जायज़ नहीं, क्योंकि यह निर्दोष लोगों से प्रतिशोध लेने के समानार्थ है और निर्दोष लोगों पर अत्याचार करके अपने प्रतिशोध की आग बुझाना निःसंदेह इस्लामी शरीअत में जायज़ नहीं।

3. जो लोग हाईजैकिंग करते हैं, वे अपने आपराधिक उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए अक्सर बेक़ुसूर लोगों को कत्ल भी कर डालते हैं। इस प्रकार का क़त्ल निःसंदेह बहुत ही गंभीर अपराध की हैसियत रखता है। क़ुरआन में ईश्वर ने घोषणा की है कि जो व्यक्ति किसी एक आदमी को भी नाहक़ क़त्ल करे, उसने जैसे तमाम इंसानों को क़त्ल कर डाला (5:32)। इस ईश्वरीय घोषणा के बावजूद जो लोग बेगुनाह मुसाफ़िरों को क़त्ल करें या उनको सताएँ, उनके दिल निःसंदेह ईश्वर के ख़ौफ से ख़ाली हैं और जिस दिल के अंदर ईश्वर का ख़ौफ़ न हो, वह निश्चित रूप से ईमान से भी ख़ाली होगा।

हवाई जहाज़ में जो यात्री यात्रा कर रहे होते हैं, स्पष्ट रूप पर वे निर्दोष होते हैं। हाईजैकरों के साथ उनका कोई भी विवादित मामला नहीं होता। ऐसी हालत में उनकी यात्रा में बाधा डालना, उनको सताना या उनको क़त्ल करना, यह सब इस्लाम में वर्जित है, यहाँ तक कि अगर मान लें किसी यात्री ने कोई ग़लती की हो, तब भी उसकी ग़लती पर दंड देने का अधिकार केवल नियमानुसार न्यायालय को है। कोई भी ग़ैर-अदालती आदमी दोषी को दंड देने का अधिकार नहीं रखता। फिर निर्दोष यात्रियों को दंड देना तो और भी ज़्यादा ग़ैर-इस्लामी काम माना जाएगा।

4. इस्लाम में धोखा देना हराम (forbidden) है, चाहे वह किसी भी उद्देश्य के लिए हो। मौजूदा ज़माने में हाईजैकिंग पूर्ण रूप से धोखे का एक काम है। हाईजैकिंग करने वाले हाईजैकिंग की हर स्टेज पर लोगों के साथ धोखे का मामला करते हैं। झूठा पासपोर्ट बनवाना, नक़ली करेंसी इस्तेमाल करना, एयरपोर्ट के कर्मचारियों को धोखा देकर ख़तरनाक हथियार जहाज़ में पहुँचाना, संबंधित लोगों को धोखा देकर जहाज़ के अंदर प्रवेश करना आदि। यह सारा काम झूठ और फ़रेब के आधार पर किया जाता है और झूठ व धोखा इस्लाम में बहुत ही गंभीर अपराध की हैसियत रखता है।

इस्लाम में केवल खुले मामले की अनुमति दी गई है। इस्लाम में इस आपराधिक काम के लिए कोई गुंजाइश नहीं कि लोगों को फ़रेब देकर अपना उद्देश्य प्राप्त किया जाए, यहाँ तक कि अगर एक मुस्लिम देश के संबंध दूसरे देश से शांति के आधार पर स्थापित हों और फिर मुस्लिम देश किसी कारण से इस देश के ख़िलाफ़ जंग छेड़ना चाहे तो मुस्लिम देश पर यह अनिवार्य होगा कि वह अपने इस निर्णय का खुला ऐलान करे और यह कहे कि आज से हम और तुम लड़ाई के लिए तैयार हैं (क़ुरआन, 8:58)। छद्म युद्ध या प्रॉक्सी वार (proxy war) इस्लाम में बिल्कुल भी जायज़ नहीं।

झूठ बोलकर और धोखा देकर अपना उद्देश्य प्राप्त करना इंसानियत के ऐतबार से भी एक ओछी हरकत है और इस्लामी ऐतबार से भी वह एक बहुत बड़े पाप की हैसियत रखता है। हदीस में वर्णन है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "जो व्यक्ति धोखे का मामला करे, वह हममें से नहीं।" (सही मुस्लिम, किताबुल ईमान)

5. हाईजैकिंग में जान व माल दोनों का नुक़सान होता है। एक तरफ़ पूरा हवाई जहाज़ है, जिसकी क़ीमत करोड़ों रुपये होती है। ऐसी स्थिति में जहाज़ में घुसकर यह धमकी देना कि हमारी माँगें पूरी करो, वरना हम जहाज़ को बम से उड़ा देंगे। यह माल को छीन लेना भी है और दूसरे के माल को नाहक़ नष्ट करना भी। जहाज़ में आम तौर पर सैकड़ों आदमी सवार रहते हैं और यह सब निर्दोष होते हैं, इसलिए जहाज़ को तबाह करने की हर योजना सैकड़ों बेगुनाह लोगों पर ज़ुल्म और क़त्ल के समानार्थ है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का हर काम स्वयं हाईजैकरों के लिए भी आत्महत्या का क़दम उठाने के बराबर है। जो ख़ुद भी बहुत बुरी चीज़ है। इस्लामी शरीअत में बताया गया है कि जो व्यक्ति जानबूझकर अपने आपको मारे, वह हराम मौत मरा और हराम मौत से बुरी कोई मौत इस्लाम में नहीं।

हाईजैकिंग का ख़ूनी ड्रामा करने वाले अपने इस काम को इस्लामी जिहाद बताते हैं। हाईजैकिंग को इस्लामी जिहाद बताना निःसंदेह मुजरिमाना हद तक ग़लत है। इसके अनेक कारण हैं।

जिहाद यानी जंग से तात्पर्य ईश्वर के रास्ते में रक्षात्मक रूप से की जाने वाली जंग से है। जबकि यह लोग जो तथाकथित जंग लड़ रहे हैं, वह धन, संपत्ति, राज्य के लिए है। धन, संपत्ति, राज्य के लिए जो जंग लड़ी जाए, वह बिल्कुल

ईश्वर की राह में जिहाद नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह कि जिहाद यानी अर्थ की दृष्टि से जंग केवल एक स्थापित राज्य का काम है, न कि सामान्य लोगों का। वर्तमान जंग का रूप यह है कि इसे सामान्य लोग छेड़े हुए हैं, जबकि सामान्य लोगों को इस्लाम में यह अधिकार प्राप्त नहीं। सामान्य लोग अगर जंग छेड़ें तो यह उनके लिए हराम काम को करना होगा।

एक स्थापित राज्य रक्षात्मक जंग लड़ सकता है, मगर ऐसी रक्षात्मक जंग भी उस समय इस्लामी जंग होगी, जबकि वह खुले ऐलान के साथ लड़ी जाए। ऐलान के बिना किसी के विरुद्ध जंग छेड़ना और उसे झूठ के बल पर चलाना इस्लाम में बिल्कुल जायज़ नहीं।

इस्लाम में अधिकारों के दो भेद किए गए हैं—हक़ूक़ुल्लाह यानी ईश्वर के अधिकार और हक़ूक़ुल इबाद यानी मानवाधिकार। हक़ूक़ुल्लाह से अभिप्राय वह ज़िम्मेदारियाँ हैं, जो ईश्वर की सबंद्धता से बंदे पर लागू होती हैं। अगर कोई गिरोह हक़ूक़ुल्लाह के मामले में कमी करता है तो इसकी पूर्ति के लिए माफ़ी माँगना ही पर्याप्त हो जाता है, मगर मानव अधिकार का मामला बहुत गंभीर है। बंदों के हक़ में ग़लती करने का मामला इंसानों से होता है। जो व्यक्ति इंसान के मामले में कोई अपराध करे तो केवल ईश्वर से माफ़ी माँगना इसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता। ईश्वर से माफ़ी माँगने के साथ-साथ उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह संबंधित लोगों से भी माफ़ी माँगे और उस नुक़सान की क्षतिपूर्ति करे, जो उसने उन्हें पहुँचाया है।

हाईजैकिंग का संबंध निःसंदेह मानव अधिकार से है। यह इंसान के मुक़ाबले में ज़ुल्म की हैसियत रखता है। ऐसी हालत में हाईजैकरों पर ज़रूरी है कि वे सताए गए इंसानों से नियमानुसार इसकी पूर्ति करें, वरना वे ईश्वर के निकट ऐसे अपराधी क़रार पाएँगे, जिसकी उसके यहाँ माफ़ी नहीं, चाहे प्रत्यक्ष में वे रोज़ा और नमाज़ क्यों न अदा कर रहे हों।

कश्मीर में शांति

मैं अपने लेखों के ज़रिए 1968 से कश्मीर से जुड़ा रहा हूँ। पहले दिन से मेरा विचार यह है कि कश्मीर को अवास्तविक राजनीति (unrealistic politics) ने तबाह किया है और अब वास्तविक राजनीति (realistic politics) के द्वारा इसे दोबारा उन्नत कश्मीर बनाया जा सकता है।

कश्मीर के मुसलमानों की वर्तमान मानसिकता यह है कि वे हर एक से बेज़ार हो चुके हैं। वे अविश्वास के वातावरण में जी रहे हैं। विचाराधीन संकलन का उद्देश्य यह है कि उन्हें अविश्वास के वातावरण से निकाला जाए और उन्हें साहस और विश्वास पर खड़ा करने की कोशिश की जाए।

कश्मीरियों के लिए इस नए जीवन का आरंभ हर क्षण संभव है, मगर इसकी दो अनिवार्य शर्तें हैं। पहली यह कि आज वे जिन दुखद परिस्थितियों से दो-चार हैं, इसके ज़िम्मेदार वे स्वयं अपने आपको ठहराएँ। जब तक वे इसका ज़िम्मेदार दूसरों को ठहराते रहेंगे, इनके लिए नए जीवन का आरंभ संभव नहीं।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि वे परिकल्पनाओं की दुनिया से निकलें और व्यावहारिक सच्चाइयों की दुनिया में जीना आरंभ करें। दूसरे शब्दों में यह कि इनके अयोग्य नेताओं ने इन्हें जिन ख़ुशफ़हमियों (wishful thinking) में ग्रस्त किया था, इनसे वे बाहर आएँ। वे उपस्थित परिस्थितियों से सहमति का तरीक़ा धारण करते हुए अपने निर्माण की नई योजना बनाएँ।

मौजूदा परिस्थिति की माँग है कि वे स्वतंत्र होकर, न कि विवशतापूर्वक यह साहसी फ़ैसला करें कि भाग्य ने उन्हें भारत का एक हिस्सा बना दिया है और अब उनके लिए इसके सिवा कोई संभव दशा नहीं कि वे ख़ुशदिली के साथ तक़दीर के इस फ़ैसले को स्वीकार कर लें।

अधिक यह कि यह उनके लिए कोई बुराई नहीं, यह निश्चित रूप से उनके लिए हर पहलू से भलाई की हैसियत रखता है। भारत एक बड़ा देश है। यहाँ स्वतंत्रता और लोकतंत्र है। यहाँ लगभग 20 करोड़ की संख्या में इन्हीं के मज़हब

के लोग रहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के समस्त इस्लामी संस्थान भारत में स्थापित हैं। भारत में इस इलाक़े के मुसलमानों के हज़ार वर्षीय इतिहास की निशानियाँ मौजूद हैं, जो इस इलाक़े के मुसलमानों को जीने का साहस देते हैं। इन सबसे बढ़कर यह की भारत में 'दीन की दावत' के वह महान अवसर उपस्थित हैं। दावत की ज़िम्मेदारी अदा करने पर हदीस में परलोक में मुक्ति की ख़ुशख़बरी दी गई है (निसाई, मुसनद अहमद)।

एक बार मैं कुछ दिन के लिए कराची, पाकिस्तान गया था। वहाँ मेरी मुलाक़ात एक मुस्लिम उद्योगपति से हुई। उन्होंने कहा कि आप लोग भारत में हमसे ज़्यादा बेहतर पोज़ीशन में हैं। मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि देखिए, पाकिस्तान एक छोटा मुल्क है। अगर हम कोई प्रोडक्ट तैयार करें तो उसे मार्केट करने के लिए हमारे पास बहुत सीमित दुनिया होती है। इसके विपरीत भारत बहुत बड़ा देश है। भारत में अगर आप कोई प्रोडक्ट तैयार करें तो उसे मार्केट करने के लिए आपके पास एक बहुत बड़ी दुनिया मौजूद होती है।

कथित मुस्लिम व्यापारी की यह बात अब एक घटना बन चुकी है। यह एक हक़ीक़त है कि इक्कीसवीं शताब्दी में पहुँचकर भारत के मुसलमान पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे ज़्यादा उन्नति प्राप्त मुसलमान बन चुके हैं। यह बात बिना अतिशयोक्ति सही है और किसी भी शहर का तुलनात्मक सर्वे करके इसकी पुष्टि की जा सकती है। इस घटना की एक प्रतीकात्मक मिसाल यह है कि आज न केवल भारतीय उपमहाद्वीप, बल्कि पूरी मुस्लिम दुनिया का सबसे ज़्यादा धनवान आदमी भारत में पाया जाता है यानी बेंगलुरू के श्री अज़ीम हाशिम प्रेम जी।

कश्मीर के मुसलमान अगर पूरे दिल से भारत के साथ मिल जाएँ तो उनके लिए हर प्रकार की प्रगति के भव्य अवसर खुल जाएँगे। शैक्षिक,आर्थिक और दूसरे समस्त प्रगति संबंधी विभागों में उनके लिए प्रगति की जो संभावनाएँ हैं, वे किसी भी दूसरे स्थान पर नहीं।

ज़्यादा यह कि भारत में उनके लिए उन्नति के महान राजनीतिक असवर मौजूद हैं। कुछ समय पहले मेरा एक लेख उर्दू, हिंदी और अंग्रेज़ी अख़बारों में छपा था। इसमें मैंने लिखा था कि कश्मीर के मुसलमान अगर टकराव की पॉलिसी छोड़ दें और भारत को दिल से स्वीकार करते हुए इसका हिस्सा बन जाएँ तो आगामी लोकतांत्रिक भारत में जो पहला मुस्लिम प्रधानमंत्री बनेगा, वह कश्मीरी मुसलमान होगा। यह एक ऐसी घटना है जिसके बारे में मुझे कोई

संदेह नहीं।अगले पृष्ठों में जो कुछ लिखा जा रहा है, वह विभिन्न पक्षों से इसी हक़ीक़त का विवरण और स्पष्टता है।

कश्मीरी नेतृत्व

कश्मीर की समस्या पर मैं इसके प्रारंभ से ही सोचता रहा हूँ। ईश्वर के मार्गदर्शन से मैंने प्रारंभ में इस मामले में जो राय क़ायम की थी, वही राय आज भी मुझे सही नज़र आती है। ईश्वर की कृपा से मुझे इस मामले में अपनी राय बदलने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

मुद्रित रिकॉर्ड के अनुसार, इस विषय पर मैं 1968 से लिखता रहा हूँ। इसके बारे में संभवत: मेरा पहला लेख वह है, जो साप्ताहिक 'अल-जमीयत' में छपा था। यहाँ यह लेख 'अल-जमीयत' उर्दू से लेकर अनुकरण किया जा रहा है—

''अपना अधिकार प्राप्त करने का समय वह होता है, जब निर्णय का सिरा अपने हाथ में हो; मगर हमारे लीडर उस समय होश में आते हैं, जबकि इनका केस अख़लाक़ी (नैतिक) केस बन चुका हो। यह अनुभूति मुझे अक्सर उस समय होती है, जबकि मैं कश्मीरी लीडर 'शेख अब्दुल्लाह' के भाषण पढ़ता हूँ। शेख साहब एक निस्वार्थ कश्मीरी हैं। अपने साहस और बलिदानों के कारण वे उचित रूप से 'शेर-ए-कश्मीर' कहलाने के पात्र हैं, मगर उनकी वर्तमान कश्मीरी मुहिम मुझे 'मुश्ते बाद अज़ जंग' (लड़ाई के बाद मुक्का मारना) से ज़्यादा नज़र नहीं आती।

1947 ई० में वे इस पोज़ीशन में थे कि अगर वे वास्तविक सोच (realistic approach) धारण करते तो अपना निर्णय स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार कर सकते थे, मगर उन्होंने निर्णय के समय को अवास्तविक (unrealistic) सपनों में खो दिया। अब जबकि निर्णय का सिरा उनके हाथ से निकल चुका है तो वे चीख़-पुकार कर रहे हैं। हालाँकि अब उनकी चीख़-पुकार मात्र नैतिक दुहाई की है और नैतिक दुहाई इस संसार में कोई वज़न नहीं रखती।

एक नवयुवक ने एक बार एक दुकान खोली। अभी उन्होंने जीवन में पहली बार क़दम रखा था और उन्हें अनुमान न था कि दुनिया में किस प्रकार की सुरक्षाओं की आवश्यकता पड़ती है। अतः दुकान में एक साधारण ताला लगाना शुरू किया।

एक रोज़ दुकान से उदास हालत में लौटे। यह देखकर एक बुज़ुर्ग ने पूछा, 'क्या बात है, आज उदास नज़र आ रहे हो?'

'दुकान में चोरी हो गई।' नवयुवक ने कहा।

'कैसे?' बुज़ुर्ग ने पूछा।

'ताला साधारण था। कोई व्यक्ति रात में खोलकर सामान निकाल ले गया।' नवयुवक ने कहा।

'यह तुम्हारी ग़लती थी।'

'जी हाँ, अब अनुभव हुआ कि दुकान में ताला अच्छे क़िस्म का लगाना चाहिए।'

यह सुनकर बुज़ुर्ग ने फ़रमाया, 'यह भी कोई अनुभव के बाद मालूम होने की चीज़ है। जब तुम दुकानदारी की लाइन में दाख़िल हुए तो तुम्हें पहले दिन से जानना चाहिए कि दुकान में ताला मज़बूत लगाया जाता है।'

दुकान और इस प्रकार के दूसरे निजी मामलों में तो इसकी भी संभावना है कि आदमी एक बार ठोकर खाकर संभल जाए, मगर क़ौमी निर्णयों की दशा बिल्कुल भिन्न है। व्यक्तिगत मामलों में एक बार नुक़सान उठाने के बाद यह भी संभावना रहती है कि परिश्रम करके आदमी दोबारा परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना ले, मगर क़ौमी मामलों में जब निर्णय का सिरा एक बार हाथ से निकल गया तो समस्या बड़ी जटिल हो जाती है। फिर तो धरती-आकाश की नई करवटें ही इसे बदल सकती हैं।

क़ौमी नेतृत्व ऐसा काम है, जो उन लोगों के करने का है, जो वर्तमान के अंदर भविष्य को देख सकें। बाक़ी वह लोग जिनकी निगाहें केवल अतीत और वर्तमान तक जाती हों और भविष्य इन्हें केवल उस समय नज़र आए, जब वह घटना बनकर उनके ऊपर टूट पड़ा हो, ऐसे लोग क़ौम का नेतृत्व नहीं कर सकते। निश्चय ही अपनी अविवेकपूर्ण अग्रसरताओं से क़ौमों को समस्याओं में उलझाने का कर्तव्य आवश्यक अंजाम दे सकते हैं।" (अल-जमीयत साप्ताहिक, नई दिल्ली; 14 जून, 1968, पृष्ठ 4)

इसके बाद मैं इसी अंदाज़ से निरंतर कश्मीर के बारे में लिखता रहा हूँ। पिछले 35 वर्ष में कश्मीर के विषय पर मैंने जो कुछ लिखा है, उसे इकट्ठा किया जाए तो एक बहुत मोटी किताब बन जाएगी।

यह ईश्वर कि कृपया है कि मेरी इस लंबी कोशिश से हज़ारों कश्मीरियों को

लाभ पहुँचा है। हज़ारों लोग लड़ाई का स्वभाव छोड़कर शिक्षा व प्रगति के क्षेत्र में सकारात्मक रूप से संलग्न हैं। इस सिलसिले में मुझे कश्मीरियों की ओर से निरंतर पत्र व टेलीफ़ोन आदि मिलते रहते हैं, जिनके बारे बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

कोई भी आंदोलन प्रत्यक्ष में जनता से संबंध रखता है, मगर वास्तव में वह लीडर का आंदोलन होता है। एक या कुछ लीडर अपने भाषणों और लेखों के द्वारा जनता को उभारते हैं और फिर जनता के नाम से अपनी लीडरी की क़ीमत वसूल करते हैं। यह परिस्थिति लीडर की ज़िम्मेदारी को और बढ़ा देती है। ऐसी हालत में केवल उस व्यक्ति को लीडरशिप के मैदान में प्रवेश करना चाहिए जिसने वह आवश्यक तैयारी की हो, जो उसे लीडरशिप की ज़िम्मेदारियों को अदा करने के योग्य बनाती है। आवश्यक तैयारी के बिना जो व्यक्ति लीडरशिप के मैदान में तत्पर हो, वह ईश्वर के निकट सख़्त मुजरिम है, चाहे नासमझ जनता के बीच उसने कितनी ही ज़्यादा लोकप्रियता प्राप्त कर ली हो।

कश्मीरियों के लिए अंतिम समय आ गया है कि वे अपने लीडरों से ऊपर उठकर पूरे मामले पर नए सिरे से विचार करें। लीडरों के बयानों की रोशनी में नहीं, बल्कि वास्तविकताओं की रोशनी में वे अपने जीवन का नक़्शा बनाएँ। इसके सिवा उनके लिए सफलता की और कोई दशा नहीं।

प्रकृति का सबक़

दरिया का सामना चट्टान से हो तो वह अपना रास्ता बदलकर आगे बढ़ जाता है, मगर नादान इंसान चाहता है कि वह चट्टान को तोड़कर अपना रास्ता बनाए, चाहे इसका परिणाम यह हो कि उसकी यात्रा सदैव के लिए रुक जाए।

कश्मीर में भारत के ख़िलाफ़ सशस्त्र आंदोलन अक्टूबर, 1989 से आरंभ हुआ। इससे केवल एक महीना पहले मैंने कश्मीर की यात्रा की थी। वहाँ श्रीनगर के टैगोर हॉल में मेरा संबोधन भाषण था। इसके अतिरिक्त इस यात्रा के दौरान बहुत से लोगों से मुलाक़ातें हुई। इसका सफ़रनामा (travelogue) उसी समय लिखा था, मगर वह किसी कारण से माहनामा ‘अल-रिसाला’ में प्रकाशित न हो सका।

एक दिन मैं कुछ कश्मीरी मुसलमानों के साथ श्रीनगर के बाहर खुली घाटी में गया। हर ओर प्रकृति के सुंदर दृश्य थे। पहाड़ के ऊपर से पानी के झरने बहते

हुए मैदान में आ रहे थे। कश्मीरी मुसलमानों को लेकर मैं झरने के पास बैठ गया। वहाँ यह दृश्य था कि झरने का पानी बहता हुआ एक जगह पहुँचता है, जहाँ उसके सामने एक पत्थर है। पानी यह नहीं करता कि वह पत्थर को तोड़कर आगे जाने की कोशिश करे। इसके विपरीत वह पत्थर के दाएँ-बाएँ से मुड़कर आगे निकल जाता है और अपनी यात्रा जारी रखता है।

मैंने कश्मीरी मुसलमानों से कहा कि इसे देखिए, यह आपके नाम प्रकृति का एक संदेश है। इस प्राकृतिक घटना के द्वारा आपको यह ख़ामोश संदेश दे रहा है कि तुम्हारे जीवन की यात्रा में कोई रुकावट की चीज़ आ जाए तो तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए कि रुकावट से टकरा जाओ और रुकावट की चट्टान को तोड़कर अपने लिए सीधा रास्ता बनाओ। इसके बजाय तुम्हें यह करना चाहिए कि रुकावट की अनदेखी करते हुए अपनी मंज़िल की ओर अपनी यात्रा को जारी रखो।

यही जीवन में सफलता का राज़ है। व्यक्ति का मामला हो या किसी क़ौम का मामला, हर एक लिए निर्माण व उन्नति का अकेला उपाय यह है कि वह रास्ते के पत्थरों की उपेक्षा करके आगे बढ़े, वह समस्याओं की उपेक्षा करे और अवसरों को इस्तेमाल करके अपने जीवन का निर्माण करे।

जहाँ तक मेरा संबंध है, मैंने कश्मीर में भारत की फ़ौजी या राजनीतिक उपस्थिति को कश्मीरियों के लिए कोई रुकावट नहीं समझा। वर्तमान लोकतांत्रिक समय में राजनीति केवल एक दर्द-ए-सर है और फ़ौज केवल सीमाओं की चौकीदार। 1989 से पहले भारत की फ़ौज कश्मीर की सीमाओं पर रहती थी, वह कश्मीरियों की बस्ती में दाख़िल नहीं हुई थी, मगर जब अक्टूबर, 1989 में कश्मीरी आंदोलन के लोगों ने हथियार उठाए और हिंसा का तरीक़ा अपनाया तो उस समय भारत की फ़ौज उससे मुक़ाबले के लिए बस्तियों में दाख़िल हुई, क्योंकि आतंकवादी बस्तियों में रहकर अपनी सशस्त्र कार्यवाहियाँ करते थे।

फिर भी मान लें कि अगर कश्मीरी मुसलमान भारतीय फ़ौज की कश्मीर में उपस्थिति को अपने लिए रास्ते का पत्थर समझें, तब भी उनके लिए सफलता और उन्नति का राज़ वही है, जो प्रकृति की ज़ुबान से उन्हें बताया जा रहा है अर्थात समस्याओं को नज़रअंदाज़ करो और अवसरों का इस्तेमाल करो—

Ignore the problems and avail the opportunity.

यह कोई विवशतापूर्ण नियम नहीं जिसका संबंध केवल वर्तमान कश्मीर से

हो। यह एक वैश्विक नियम है। इसका संबंध हर इंसानी आबादी से है। ज़्यादा यह कि जीवन का यही नियम व्यक्ति के लिए भी है और समुदाय के लिए भी है, यही नियम मुस्लिम देश के लिए भी है और ग़ैर-मुस्लिम देश के लिए भी।

नासमझी का तरीक़ा

वर्तमान संसार में सफल जीवन का एक नियम यह है कि जब किसी से किसी मामले में विवाद पैदा हो तो पहले ही चरण में यह किया जाए कि जो कुछ मिल रहा है, उसे रज़ामंदी से स्वीकार कर लिया जाए। अगर पहले चरण में ऐसा नहीं किया गया तो और ज़्यादा प्राप्त करने की ख़ातिर मामले के निपटारे को लंबा किया गया तो मामला और जटिल हो जाएगा। पहले चरण में जो कुछ मिल रहा था, उसका मिलना भी असंभव हो जाएगा।

इसकी एक मिसाल फ़िलिस्तीन की वर्तमान समस्या है। 1917 की घटना है। ब्रिटिश साम्राज्य ने फ़िलिस्तीन के विभाजन का एक फॉर्मूला बनाया। यह 'बालफ़ोर डिक्लेरेशन' के नाम से प्रसिद्ध है। यह विभाजन स्पष्ट रूप से अरबों के पक्ष में था। इस विभाजन में फ़िलिस्तीन का एक तिहाई से कम भाग इज़राइल को दिया गया था और इसका दो तिहाई से ज़्यादा भाग अरबों के लिए ख़ास किया गया था। इसके अनुसार, यरुशलम का पूरा शहर और मस्जिद अक्सा का पूरा क्षेत्र अरबों को मिला था, मगर उस समय के मुस्लिम नेतृत्व ने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। एक अरब विद्वान ने हक़ीक़तपसंदी का तरीक़ा अपनाते हुए इसे स्वीकार करने की बात कही तो उस पर अरब हित से ग़द्दारी का आरोप लगाया गया। वह व्यक्ति यह पंक्तियाँ कहकर मर गया—

"जल्द ही मेरी क़ौम जान लेगी कि मैंने उसे धोखा नहीं दिया और रात चाहे जितनी भी लंबी हो जाए, सुबह हर हाल में आकर रहती है।"

इस समय का मुस्लिम नेतृत्व या अरब नेतृत्व अगर यथार्थवादी तरीक़ा अपनाता और प्रारंभिक चरण में जो कुछ उसे मिल रहा था, उसे लेकर वह अपने समस्त प्रयास निर्माण व प्रगति के काम में लगा देता तो आज फ़िलिस्तीन के अरब मुसलमानों की हालत वहाँ के यहूदियों से कई गुणा बेहतर होती; मगर अवास्तविक सोच (unrealistic thinking) का परिणाम यह हुआ कि फ़िलिस्तीनियों के हिस्से में तबाही के सिवा कुछ न आया।

ठीक यही मामला जम्मू-कश्मीर में भी पेश आया। कश्मीरी नेतृत्व और पाकिस्तानी नेतृत्व दोनों इस मामले में निकृष्टतम अयोग्यता का शिकार हुए हैं। घटनाएँ बताती हैं कि कश्मीर की वर्तमान समस्या स्वयं उनके लीडरों की नादानियों के नतीजे में उत्पन्न हुईं, न कि किसी और के अत्याचार या षड्यंत्र के नतीजे में।

इस मामले में मुस्लिम लीडरों की नासमझी की सूची बहुत लंबी है। यहाँ मैं इसके केवल एक पक्ष की चर्चा करूँगा। 1947 में जब देश विभाजित हुआ तो पाकिस्तान अवास्तविक रूप से दो भिन्न राज्यों का दावेदार बन गया— जूनागढ़ और हैदराबाद। अगर पाकिस्तान हक़ीक़तपसंदाना नीति अपनाते हुए जूनागढ़ और हैदराबाद का दावेदार न बनता, जो पाकिस्तान को सिरे से मिलने वाला ही न था तो कश्मीर का मामला कभी गंभीर न बनता। इसका निर्णय बहुत आसानी के साथ पाकिस्तान के पक्ष में हो जाता, मगर पाकिस्तानी नेताओं की दोतरफ़ा दौड़ का परिणाम यह हुआ कि दोनों में से कोई एक भी उनके हिस्से में न आया। यहाँ मैं इस सिलसिले में स्वयं पाकिस्तान के दो हवालों की चर्चा करूँगा।

इस सिलसिले में पहला संदर्भ चौधरी मुहम्मद अली का है। वे 1955-56 में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री थे। इससे पहले वे लियाक़त अली खाँ के मंत्रिमंडल में मंत्री की हैसियत से शामिल थे। पाकिस्तान के हालात पर उनकी एक विस्तृत अंग्रेज़ी किताब छपी है जिसका नाम 'इमरजेंस ऑफ़ पाकिस्तान' (Emergence of Pakistan) है।

इस किताब में वे बताते हैं कि विभाजन के बाद जूनागढ़ के मुस्लिम नवाब ने पाकिस्तान के साथ अपनी रियासत का विलय कर लिया, जबकि जूनागढ़ में हिंदुओं की बहुसंख्या थी। भारत ने इस विलय को नहीं माना और पुलिस एक्शन के द्वारा रियासत जूनागढ़ को इंडियन यूनियन में मिला लिया। इसके बाद दिल्ली में एक मीटिंग हुई। मीटिंग में भारत की ओर से जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल शामिल थे और पाकिस्तान की ओर से नवाब लियाक़त अली खाँ और चौधरी मुहम्मद अली ने शिरकत की। लेखक लिखते हैं— "सरदार पटेल हालाँकि पाकिस्तान के कठोर दुश्मन थे, मगर वे नेहरू से ज़्यादा हक़ीक़तपसंद थे। दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों के बीच एक वार्ता में, जिसमें पटेल और मैं दोनों मौजूद थे, लियाक़त अली खाँ ने कश्मीर और जूनागढ़ के मामले में भारत के विरोधाभासी बरताव पर विस्तृत बात की। उन्होंने कहा कि जूनागढ़ के शासक के

पाकिस्तान में विलय के बावजूद वह भारत का हिस्सा है, क्योंकि वहाँ के बहुसंख्यक हिंदू हैं तो कश्मीर अपनी मुस्लिम बहुसंख्या के साथ क्योंकर भारत का हिस्सा बन सकता है, केवल इसलिए कि वहाँ के हिंदू शासक ने भारत के साथ सशर्त विलय के काग़ज़ों पर हस्ताक्षर कर दिए। अगर जूनागढ़ के विलय के दस्तावेज़, जिस पर वहाँ के मुस्लिम शासक ने हस्ताक्षर किए हैं, अपने अंदर कोई औचित्य नहीं रखता तो इस दस्तावेज़ का भी कोई औचित्य नहीं, जिस पर कश्मीर के हिंदू शासक ने हस्ताक्षर किए हैं। अगर जूनागढ़ में वहाँ की जनता की इच्छा महत्ता रखती है तो यही नियम कश्मीर के लिए भी होना चाहिए। भारत कश्मीर और जूनागढ़ दोनों का दावा नहीं कर सकता। जब लियाक़त अली खाँ ने यह बात कही तो पटेल अपने आप पर क़ाबू न रख सके और फट पड़े। उन्होंने कहा कि तुम जूनागढ़ की तुलना कश्मीर से क्यों करते हो, हैदराबाद और कश्मीर की बात करो। हम अभी एक फ़ैसले तक पहुँच सकते हैं। पटेल का दृष्टिकोण इस अवसर पर और बाद में भी यह था कि मुस्लिम अधिसंख्या के क्षेत्र को उनकी इच्छा के ख़िलाफ़ अपने क़ब्ज़े में रखना भारत के लिए कमज़ोरी का ज़रिया होगा, न कि ताक़त का ज़रिया। उनका अहसास था कि भारत और पाकिस्तान अगर इस पर राज़ी हो जाएँ कि हैदराबाद भारत के साथ हो और कश्मीर पाकिस्तान के साथ हो, तो कश्मीर और हैदराबाद की समस्या का शांतिपूर्ण समाधान किया जा सकता है। इसमें साझा रूप से दोनों को ही फ़ायदा होगा।” (पृष्ठ 299-300)

Sardar Patel, although a bitter enemy of Pakistan, was a greater realist than Nehru. In one of the discussions between the two Prime Ministers, at which Patel and I were also present, Liaqat Ali Khan dwelt on the inconsistency of the Indian stand with regard to Junagadh and Kashmir. If Junagadh, despite its Muslim ruler’s accession to Pakistan, belonged to India because of its Hindu majority, how could Kashmir, with its Muslim majority, be a part of India simply by virtue of its Hindu ruler having signed a conditional instrument of accession to India? If the instrument of accession signed by the Muslim ruler of Junagadh was of no validity, the instrument of accession signed by the Hindu ruler of Kashmir was also invalid. If the will of the people was to prevail in Junagadh, it must prevail in Kashmir as well. India could not claim

both Junagadh and Kashmir. When Liaqat made these incontrovertible points, Patel could not contain himself and burst out: “Why do you compare Junagadh with Kashmir? Talk of Hyderabad and Kashmir, and we could reach an agreement.” Patel’s view at this time, and even later, was that India’s efforts to retain Muslim-majority areas against the will of the people were a source not of strength but of weakness to India. He felt that if India and Pakistan agreed to let Kashmir go to Pakistan and Hyderabad to India, the problems of Kashmir and of Hyderabad could be solved peacefully and to the mutual advantage of India and Pakistan.

अगर पाकिस्तानी लीडर का यह बयान सही है तो यह इस बात का अकाट्य सबूत है कि कश्मीर का मामला स्वयं पाकिस्तानी लीडरों का पैदा किया हुआ है, न कि भारतीय लीडरों का।

इस सिलसिले में दूसरी मिसाल वह है, जो पाकिस्तान के एक प्रसिद्ध लीडर सरदार शौकत हयात खाँ की किताब में मिलती है। उनकी यह किताब लाहौर से उर्दू में ‘गुमगुश्ता क़ौम’ के नाम से 460 पृष्ठों पर छपी है। इस किताब का अंग्रेज़ी नाम यह है— ‘The Nation that Lost its Soul’

यहाँ इस किताब का एक उदहारण अनुकरण किया जा रहा है—

‘‘बाद में कश्मीर पर हमले के दौरान जब ‘माउंटबेटन’ लाहौर आया। एक डिनर जिसमें लियाक़त, गर्वनर मोदी और पंजाब के चार मंत्री उपस्थित थे, लॉर्ड माउंटबेटन ने पटेल का संदेश पहुँचाया। पटेल जो भारत का शक्तिशाली व्यक्तित्व था, उसका संदेश था कि इस नियम की पाबंदी की जाए, जो कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच रियासतों के भविष्य के बारे में तय की गई थी। वह यह कि रियासत अपने नागरिकों की बहुसंख्या और सरहदों के साथ मिलाप के आधार पर पाकिस्तान या भारत के साथ विलय करेंगी। पटेल ने कहा कि पाकिस्तान कश्मीर ले ले और हैदराबाद दक्कन की माँग छोड़ दे, जहाँ पर हिंदू आबादी की अधिसंख्या थी और जिसका पाकिस्तान के साथ ज़मीनी या समुद्री माध्यम से कोई मिलाप भी न था। यह संदेश देने के बाद माउंटबेटन गवर्नमेंट हाउस में आराम करने चला गया।

मैं कश्मीर ऑपरेशन का पूर्ण संरक्षक था। मैंने लियाक़त अली के पास जाकर

उन्हें यह प्रस्ताव दिया कि भारत की फ़ौज कश्मीर में दाख़िल हो चुकी है। हम क़बाईलियों की सहयता से उसे बाहर निकालने और कश्मीर को अपने साथ मिलाने में सफल नहीं हो सकेंगे, यहाँ तक कि हमारी इस समय की फ़ौज भी इस सफलता की प्राप्ति में शायद मददगार साबित न हो सकेगी, इसलिए हमें पटेल की पेशकश को ठुकराना नहीं चाहिए। नवाबज़ादे ने मेरी ओर मुड़कर कहा, 'सरदार साहब ! क्या मैं पागल हो गया हूँ कि मैं कश्मीर के पहाड़ों और टीलो के बदले रियासत हैदराबाद दक्कन को छोड़ दूँ, जो पंजाब से भी बड़ी रियासत है।'

लियाक़त अली खाँ की इस प्रतिक्रिया को देख़कर मैं तो सुन्न हो गया कि हमारा प्रधानमंत्री देश के भूगोल से इतना बेख़बर था। उसकी बुद्धिमानी का यह स्तर कि वह हैदराबाद दक्कन को कश्मीर पर महत्त्व दे रहा है। यह तो मूर्खों की जन्नत में रहने वाली बात थी। हैदराबाद की प्राप्ति एक मृगतृष्णा (mirage) थी, जबकि कश्मीर मिल रहा था। कश्मीर की पाकिस्तान के साथ महत्ता से वे क़तई परिचित नहीं थे। अतः विरोधस्वरूप मैंने कश्मीर ऑपरेशन के संरक्षण से त्याग-पत्र दे दिया।" (पृष्ठ 231-32)

पाकिस्तान लीडर के बयान को अगर सही मान लिया जाए तो यह इस बात का सबूत है कि कश्मीर का मामला पूर्णतः और एकतरफ़ा रूप से स्वयं मुस्लिम नेतृत्व का पैदा किया हुआ है, किसी और का नहीं। यहाँ मैं केवल यह वृद्धि करूँगा कि प्रकृति के अटल क़ानून के अनुसार किसी व्यक्ति या समुदाय के लिए यह संभव नहीं कि वह अपनी ग़लती की क़ीमत दूसरे से प्राप्त कर सके। अपनी ग़लती की क़ीमत आदमी को हर हाल में स्वयं अदा करनी पड़ती है और निश्चित रूप से पाकिस्तान का इसमें कोई अपवाद नहीं।

यथार्थवादी बनिए

अप्रैल, 1986 ई० के अंतिम सप्ताह में अमृतसर में कुछ सिखों ने बतौर ख़ुद स्वतंत्र ख़ालिस्तान की स्थापना की घोषणा कर दी। ठीक इसी समय में दिल्ली के अंग्रेज़ी अख़बार 'हिंदुस्तान टाइम्स' में मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक यह था— हक़ीक़त की स्वीकृति (Acceptance of Reality)

मेरा यह लेख पंजाब और कश्मीर दोनों के बारे में था। मैंने पंजाबियों और कश्मीरियों दोनों को संबोधित करते हुए यह कहा था कि पंजाब और कश्मीर को

अलग करने वाले आंदोलन कभी सफल नहीं हो सकते। वे हक़ीक़त की चट्टान से टकराने जैसे हैं। इस प्रकार के प्रयास से कुछ लोग अपना सिर तोड़ सकते हैं, मगर परिस्थिति को नहीं बदल सकते। मैंने दोनों जगह के लोगों को यह परामर्श दिया था कि वे हक़ीक़तपसंदी से काम लें और यथापूर्व स्थिति (status quo) को मानकर सकारात्मक शैली में अपने जीवन का निर्माण करें।

सिख लोग शीघ्र ही इस मामले को समझ गए और उन्होंने इस मामले पर अपना हिंसावादी आंदोलन समाप्त कर दिया। कश्मीर के लोग भी यक़ीनी तौर पर अंततः यही रास्ता अपनाएँगे, मगर उस समय जबकि इन पर फ़ारसी की पंक्ति सच उतर चुकी होगी—

"आँ चे दाना कुंद कुंद नादाँ, लेक बाद अज़ ख़राबीए बसयार"

इस फ़र्क़ का कारण संभवत यह है कि सिख लोगों के पास अपनी तबाही को जायज़ साबित करने (justify) करने के लिए शानदार दृष्टिकोण मौजूद न था, जबकि दूसरे गिरोह के पास ऐसे शानदार सिद्धांत मौजूद हैं जिनके द्वारा वे आत्महत्या के काम को इस्लामी शहादत जैसा सुंदर शीर्षक दे सकें।

इस संदर्भ में एक अनुभव यहाँ वर्णन योग्य है। 27 जनवरी, 1992 की घटना है। कश्मीर के दो शिक्षित मुसलमान दिल्ली आए और मुझसे मुलाक़ात की। यह लोग स्वयं तो किसी लड़ाकू संगठन के नियमित सदस्य न थे, मगर वे कश्मीर के सशस्त्र आंदोलन के पूरी तरह समर्थक थे। वे व्यावहारिक लड़ाकू न होते हुए भी पूर्ण अर्थ में वैचारिक लड़ाकू थे।

बातचीत के दौरान मैंने कहा कि आप लोगों का तथाकथित कश्मीरी आंदोलन किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। वह न जिहाद है और न इससे इस्लामी व्यवस्था स्थापित होने वाली है और न स्वतंत्रता का आंदोलन परिणामजनक होगा। इसका नतीजा बरबादी के सिवा कुछ भी नहीं। उन्होंने उत्तेजनापूर्ण रूप से अपने मौजूदा आंदोलन का समर्थन किया और दावा किया कि शीघ्र ही हम एक महान सफलता प्राप्त करने वाले हैं। फिर उन्होंने मेरे कहने पर अपने हस्ताक्षर के साथ नीचे लिखे शब्द मेरी डायरी में लिखे—

"भारत से पृथकता के बाद जो कश्मीर बनेगा, इंशाल्लाह! वह कश्मीर इस्लामी कश्मीर होगा।" इसके बाद मैंने कहा कि आप लोगों की यह बात बेबुनियाद ख़ुशफ़हमी (wishful thinking) के सिवा और कुछ नहीं। आप लोगों को बहुत जल्द मालूम हो जाएगा कि आपके अंदाज़े कितने ज़्यादा

अवास्तविक थे, फिर मैंने अपनी डायरी में उनके सामने यह शब्द लिखे—

मान लें अगर कश्मीर भारत से अलग हो जाता है तो इसके बाद जो आज़ाद कश्मीर या पाकिस्तानी कश्मीर बनेगा, वह एक बरबाद देश होगा। कश्मीरियों के लिए चुनाव (choice) भारतीय कश्मीर या पाकिस्तानी कश्मीर में नहीं है, बल्कि भारतीय कश्मीर या बरबाद कश्मीर में है।

इस बात को अब 28 वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस 28 वर्षीय अनुभव ने अंतिम रूप से यह साबित किया है कि कथित कश्मीरी मुजाहिद के शब्द झूठी ख़ुशफ़हमी के सिवा और कुछ न थे। इसके विपरीत मैंने जो कुछ ईश्वर के मार्गदर्शन से कहा था, वह आज एक ऐसी हक़ीक़त बन चुका है जिसका इनकार नहीं किया जा सकता। घटनाओं ने यह साबित किया है कि वर्तमान हालात में कश्मीर का फ़ायदा न आज़ाद कश्मीर बनने में है, न पाकिस्तानी कश्मीर बनने में। कश्मीर का फ़ायदा हर ऐतबार से यह है कि वह भारत का हिस्सा बन जाए और टकराव की पॉलिसी छोड़कर शांतिपूर्ण निर्माण का तरीक़ा अपना ले।

कश्मीर में जो लोग अपने विचार के अनुसार जिहाद का आंदोलन चला रहे हैं, वे अपने आपको इस्लामपसंद कहते हैं; मगर सही यह है कि वे इस्लामपसंद बनने से पहले हक़ीक़तपसंद बनें। इस्लाम का क़िला हक़ीक़त की ज़मीन पर खड़ा होता है, ख़ुशफ़हमी की ज़मीन पर कोई क़िला नहीं बन सकता— न इस्लाम का और न ग़ैर-इस्लाम का।

राजनीतिक टकराव से बचना

बुद्धिमान आदमी की परिभाषा यह की गई है कि बुद्धिमान इंसान वह है, जो चीज़ों की प्रासंगिक हैसियत को जाने—

A wise man is he who knows the relative value of things.

इस कथन की रोशनी में देखा जाए तो यह कहना पड़ेगा कि शायद कश्मीर के लीडरों में कोई भी व्यक्ति नहीं जिसे इस कथनानुसार बुद्धिमान कहा जा सके। अतः उन्होंने अपने अग्रसर होने को जाना, मगर उन्होंने अपने अग्रसर होने के परिणाम को नहीं जाना।

इस मामले को क़ुरआन की एक आयत की रोशनी में समझिए। क़ुरआन में बताया गया है कि पैग़ंबर सुलेमान ने जब मलिका सबा के नाम अपना ख़त भेजा

और उससे समर्पण की माँग की तो उसने अपने दरबारियों से परामर्श किया। दरबारियों ने कहा कि हमारे पास सैनिक शक्ति है, फिर हम क्यों किसी दूसरे के आगे समर्पण करें। इसका उत्तर जो मलिका सबा ने दिया, उसका वर्णन क़ुरआन में इस प्रकार है—

"मलिका सबा ने कहा कि बादशाह लोग जब किसी बस्ती में प्रवेश करते हैं, वे उसे ख़राब कर देते हैं और इसके इज़्ज़त वालों को ज़लील कर देते हैं और यही यह लोग करेंगे।" (16:34)

क़ुरआन में इस घटना का जो वर्णन किया गया है, इससे एक अति महत्त्वपूर्ण हक़ीक़त मालूम होती है। वह यह कि शक्तिशाली शासकों से टकराव करते हुए यह सोचना चाहिए कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम अगर नकारात्मक निकलता है तो उपेक्षा की जाएगी, न कि टकराव। अनुभव बताता है कि शक्तिशाली शासक से टकराव का परिणाम हमेशा उल्टा निकलता है। इसके परिणामस्वरूप आबादियाँ तबाह होती हैं और इज़्ज़त वाले लोगों को अपमान का सामना करना पड़ता है। राजनीतिक टकराव का यह विनाशकारी परिणाम हमेशा प्रकट होता है, चाहे शासक कोई भी हो और चाहे वह कोई नेक इंसान क्यों न हो।

शक्तिशाली शासक से टकराव हर स्थिति में इस योग्य है कि उससे से बचा जाए। अगर कुछ लोग इस नसीहत का ध्यान न करें और शक्तिशाली शासक से सीधे टकरा जाएँ तो इसके बाद उनके लिए धन-संपत्ति की समाप्ति की शिकायत करना व्यर्थ है। उन्हें जानना चाहिए कि जो तबाही उन्हें पेश आ रही है, वह वास्तव में टकराव की क़ीमत है। जो लोग सत्ता के ख़िलाफ़ सशस्त्र टकराव की पॉलिसी धारण करें, उन्हें हर हाल में यह क़ीमत देनी पड़ेगी। इस दुनिया में यह संभव नहीं कि ग़लती कोई एक गिरोह करे और उसकी क़ीमत किसी और गिरोह की तरफ़ से अदा की जाए।

कश्मीरी लीडरों और पाकिस्तानी लीडरों की ओर से अक्सर ऐसे लेख छपते हैं, जिनका शीर्षक होता है— 'ज़ख्मी कश्मीर' (Wounded Kashmir) या 'ज़ख्मी घाटी' (Wounded Valley) आदि। इन लेखों में बताया जाता है कि भारत की फ़ौज किस प्रकार कश्मीर के लोगों पर अत्याचार कर रही है। इस प्रकार की रिपोर्ट सारी दुनिया में हज़ारों की संख्या में छपकर प्रकाशित की गई है, मगर व्यवहारतः इनका कोई भी सकारात्मक फ़ायदा नहीं। इस प्रकार की रिपोर्ट बेफ़ायदा चीख़-पुकार बनकर रह गई है।

फ़रियाद या विरोध के इस अप्रभाव की शिकायत कश्मीरियों को किसी और से नहीं करनी चाहिए। इसके बजाय स्वयं उन्हें अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इन कश्मीरियों के लिए मलिका-ए-सबा की कथित घटना में बहुत बड़ी शिक्षा है। मलिका सबा ने यह युक्तिपूर्ण पॉलिसी अपनाई कि फ़ौजों के ज़ुल्म-ओ-सितम की नौबत ही न आए। इसके विपरीत कश्मीरियों ने अपनी बेवकूफ़ी में फ़ौजों को निमंत्रण दिया कि वह इन पर टूट पड़ें और इन्हें अपने ज़ुल्म का निशाना बनाए। कश्मीरियों ने 'आ बैल मुझे मार' का तरीक़ा अपनाया और मलिका सबा ने बैल से बचाव का। इसी एक वाक्य में कश्मीर की पूरी कहानी का सारांश है।

कश्मीर के लोग आज जिस समस्या से सामना कर रहे हैं, उसके समाधान का प्रारंभ यह है कि वे इस मामले में अपनी ग़लती को मानें और क़ुरआन में बताई गई घटना से सबक़ लेकर अपने जीवन के निर्माण की पुनः योजनाबंदी करें। इसके अतिरिक्त इस समस्या का कोई और समाधान नहीं।

नीति की माँग

हदीस में वर्णन है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया— "तुम हिंसा वाला रास्ता न अपनाओ, वरना तुम्हारे हालात और कठोर हो जाएँगे (सुनन अबी दाऊद, 4904)।" मौजूदा ज़माने में इसकी मिसाल हर उस देश में पाई जाती है, जहाँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक तरीक़ा अपनाया गया। उन्हीं में से एक कश्मीर भी है।

कश्मीर में जो हिंसा की गई, इसका फ़ायदा तो कुछ नहीं हुआ, लेकिन नुक़सान इतना ज़्यादा हुआ जिसका कोई अंदाज़ा नहीं किया जा सकता। जीविका तबाह हो गई, शिक्षा व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई, लगभग एक लाख आदमी मारे गए। इससे ज़्यादा लोग वे हैं, जो शारीरिक अपंगता का शिकार होकर जीवन व्यतीत करने पर विवश हो गए। नैतिक परंपराएँ टूट गईं; जिस कश्मीर के नाम पर आंदोलन चलाया गया, वह कश्मीरियत तबाह होकर रह गई।

उन्हीं में से एक बड़ी हानि यह है कि कश्मीर के ज़्यादातर योग्य और उच्च शिक्षित लोग कश्मीर को छोड़कर बाहर के इलाक़ों में चले गए।

कश्मीर की टूरिस्ट इंडस्ट्री अपने अंदर बहुत से फ़ायदे रखती थी। इसकी

बदौलत व्यापारिक गतिविधियाँ यहाँ साल भर जारी रहती थीं, मगर अब हाल यह है कि वहाँ की टूरिस्ट इंडस्ट्री लगभग समाप्त हो गई है। एक कश्मीरी ने कहा कि इस टूरिस्ट इंडस्ट्री की बदौलत कश्मीर का हाल यह था कि हम पत्थर लेकर सड़क पर बैठ जाते थे तो वह भी एक क़ीमती सौदे की तरह बिकता था, मगर आज यह हाल है कि हमारे सेब का भी कोई ख़रीदार नहीं। कश्मीरी जनता के नाम पर उठाए जाने वाले इस आंदोलन का कोई लाभ कश्मीरी जनता को तो नहीं मिला, निश्चय ही कश्मीर के तथाकथित लीडरों को आवश्यक ही इससे लाभ पहुँचा।

क़ुरआन ने अपने अनुयायियों को जो शिक्षा दी है, उनमें से एक यह है— “तुम लोग उस चीज़ पर ग़म न करो, जो तुमसे खोया गया।” (57:23)

यह आयत वास्तव में प्रकृति के उस क़ानून को बताती है, जो ईश्वर ने इस दुनिया में निर्धारित किया है। इस क़ानून के अनुसार, हर इंसान और हर गिरोह के साथ अनिवार्य रूप से खोने का अनुभव पेश आता है। कोई भी व्यक्ति या समुदाय प्रकृति के इस क़ानून से अलग नहीं। यह ईश्वर की सृष्टि-निर्माण योजना का एक अंश है, जिसके अंतर्गत उसने इस दुनिया को बनाया। दूसरे शब्दों में यह कि यह ईश्वर का क़ानून है और ईश्वर के क़ानून को बदलना किसी के लिए संभव नहीं।

मगर इसी के साथ प्रकृति का दूसरा अनिवार्य क़ानून यह है कि इस दुनिया में अवसर (opportunities) कभी समाप्त नहीं होते। इस दुनिया में जब भी एक अवसर समाप्त होता है कि तुरंत ही दूसरा अवसर इसके साथ लगा हुआ चला आता है। इसलिए समझदारी यह कि आदमी खोए हुए अवसर को भुलाए और नवीन अवसरों को इस्तेमाल करे। यही आज कश्मीरियों को करना चाहिए।

स्वार्थी लीडर ख़ोए हुए के नाम पर अपनी लीडरी चलाता है। वास्तविक लीडर वह है, जो पाए हुए के नियम पर अपना आंदोलन चलाए। जो बाधाओं के बजाय अवसरों को चिह्नित करके अपनी क़ौम को नवीन भविष्य का मार्ग दिखाए।

शांति और न्याय

शांति के साथ आप हमेशा रह सकते हैं, मगर जंग आप हमेशा के लिए नहीं लड़ सकते। कश्मीर के लोगों को बिल्कुल भी इस आज़माई हुई ऐतिहासिक वास्तविकता का ज्ञान नहीं। वे अपनी बेनतीजा जंग को निरंतर जारी रखे हुए हैं, यहाँ तक कि यह बेनतीजा जंग अब आत्मघाती बमबारी की सीमा तक पहुँच

चुकी है। इन लोगों को मालूम नहीं कि आत्मघाती बमबारी का तरीक़ा जापान ने दूसरे विश्वयुद्धमें उनके मुक़ाबले में हज़ार गुणा ज़्यादा पैमाने पर इस्तेमाल किया, मगर वह पूर्णतः असफल रहा। दुनिया में कोई भी राजा किसी जंग को हमेशा के लिए जारी न रख सका। फिर कश्मीर की जनता किस प्रकार इस बेनतीजा जंग को हमेशा के लिए जारी रख सकती है। अंततः जो कुछ होने वाला है, वह यह कि कश्मीर के लड़ाकू थक जाएँ और मजबूरन अपनी जंग को समाप्त कर दें, मगर सही यह होगा कि कश्मीर के लोग समझदारी का तरीक़ा अपनाते हुए स्वयं अपने फ़ैसले के अंतर्गत इस विनाशकारी जंग का अंत कर दें।

कश्मीर के एक शिक्षित मुसलमान से बात हुई। मैंने कहा कि कश्मीर में सबसे ज़्यादा जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह शांति (peace) है। उन्होंने कहा कि हम भी अमन चाहते हैं, मगर कौन-सा अमन? अमन वह है जिसके साथ इंसाफ़ मिले। जिस अमन के साथ इंसाफ़ शामिल न हो, वह तो केवल ज़ालिमों को फ़ायदा पहुँचाता है, न कि उन्हें जिन पर ज़ुल्म किया जाता है।

मैंने कहा कि यह सबसे ज़्यादा गंभीर ग़लतफ़हमी है जिसमें सारी दुनिया के मुस्लिम लीडर ग्रस्त हैं। अमन की परिभाषा जंग की अनुपस्थिति (absence of war) से की जाती है और यह बिल्कुल सही परिभाषा है। शांति कभी न्याय के लिए नहीं होती, शांति केवल इसलिए होती है कि न्याय की प्राप्ति के प्रयास के लिए कारगर वातावरण प्राप्त हो सके। यही बुद्धि के अनुसार भी है और यही इस्लाम के अनुसार भी।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने जब हुदैबिया का शांति समझौता किया तो इसमें आपको केवल शांति मिली थी, न्याय नहीं मिला था; लेकिन जब शांति के द्वारा सामान्य हालात पैदा हुए तो आपने इन हालात में काम करके बाद में न्याय भी प्राप्त कर लिया। न्याय कभी शांति का अंश नहीं होता, न्याय हमेशा शांति के बाद प्राप्त अवसरों को इस्तेमाल करने से मिलता है, न कि सीधे रूप से स्वयं शांति से।

कश्मीर के हिंसात्मक आंदोलन के नेताओं से बात की जाए तो वे हमेशा और समान रूप से एक बात को दोहराते हुए नज़र आते हैं। वह यह कि हम केवल यह चाहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों की रोशनी में हमारे मामले का निर्णय किया जाए। दूसरे शब्दों में यह कि कश्मीर में जनमत (referendum) कराया जाए। क़ानूनी या तार्किक रूप ये इस बात का बेवज़न होना उस समय सारी दुनिया

को मालूम हो गया, जबकि संयुक्त राष्ट्र के सेक्रेटरी जनरल कोफ़ी अन्नान ने अपने एक दौरे के बीच इस्लामाबाद में यह घोषणा की कि कश्मीर के बारे में संयुक्त राष्ट्र का प्रस्ताव (resolution) अब असंबद्ध (irrelevant) हो चुका है।

फिर भी इससे अलग मैं एक सैद्धांतिक बात कहूँगा। वह यह कि अपना हक़ स्वयं अपनी शाक्ति से प्राप्त किया जाता है, दूसरे की शाक्ति के बल पर कभी किसी ने अपना अधिकार प्राप्त नहीं किया। हक़ीक़त यह है कि चर्चित प्रकार का दृष्टिकोण केवल किसी ख़ुशफ़हम इंसान के दिमाग़ में जगह पा सकता है। दुनिया की सच्चाई में ऐसे किसी दृष्टिकोण का अस्तित्व नहीं। अब कश्मीरियों को निर्णय करना है कि वे इतिहास में अपना नाम ख़ुशफ़हम क़ौम की हैसियत से लिखवाना चाहते हैं या सत्य से परिचित क़ौम की हैसियत से।

इस्लामी आंदोलन नहीं

कश्मीर के लड़ाकू मुसलमान अपनी वर्तमान लड़ाई को इस्लामी जिहाद कहते हैं। यह एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है जिसमें यह लोग ग्रस्त हैं। इस मामले में हमारे लोगों की ख़ामोशी, जो समझ से परे है, ने उनके इस विश्वास में और ज़्यादा वृद्धि की है। कश्मीर की वर्तमान जंग निश्चित रूप से जिहाद नहीं, इसमें हिस्सा लेने वाले को बिल्कुल भी जिहाद का इनाम नहीं मिल सकता।

जिस प्रकार नमाज़ की कुछ शर्तें हैं, इसी प्रकार ईश्वर के मार्ग में जिहाद की भी शर्तें है और कश्मीर की लड़ाई इन शर्तों पर पूरी नहीं उतरती। जिहाद के लिए एक नियमानुसार अमीर (नायक) होना चाहिए। जिहाद के लिए एक अधिकारपूर्ण मुस्लिम इलाक़ा बतौर केंद्र होना चाहिए। जिहाद राज्य, धन व संपत्ति के लिए नहीं होता, बल्कि ईश्वर की बात को पहुँचाने के लिए होता है आदि। और यह एक सच्चाई है कि कश्मीर की लड़ाई इनमें से किसी भी शर्त पर पूरी नहीं उतरती। कश्मीर की मौजूदा लड़ाई को या तो गोरिल्ला वार या प्रॉक्सी वार कहा जा सकता है और इन दोनों ही प्रकार की जंगों का इस्लाम से कोई संबंध नहीं। गोरिल्ला वार इसलिए ग़ैर-इस्लामी है कि इस्लाम में जिहाद शासक का काम है, न कि जनता का काम और प्राक्सी वार इसलिए ग़ैर-इस्लामी है कि जो राज्य प्रॉक्सी वार को चला रहा है, उसने इसकी घोषणा नहीं की और इस्लामी जंग के लिए खुली घोषणा अनिवार्य शर्त है।

इस हक़ीक़त को सामने रखा जाए तो कश्मीर की वर्तमान नाकाम जंग कश्मीरियों को यह संदेश दे रही है कि एक क्षण की देरी के बिना तुम अपनी लड़ाई को बंद कर दो। इसलिए कि इस लड़ाई में तुम्हारे लिए दुनिया की तबाही भी है और आख़िरत की तबाही भी। दुनिया की तबाही इसलिए कि तुम आवश्यक तैयारी के बिना लड़ रहे हो और आख़िरत की तबाही इसलिए कि तुम जिहाद के नाम से एक ऐसी लड़ाई लड़ रहे हो, जो इस्लामी नियम के अनुसार जिहाद है ही नहीं।

राजनीतिक आज़ादी का आंदोलन कोई इस्लामी आंदोलन नहीं, वह पूर्णतया एक क़ौमी आंदोलन है। ऐसा कोई आंदोलन अगर क़ौमियत के नाम पर चलाया जाए तो इसमें बज़ाहिर कोई दोष नहीं, लेकिन अगर ऐसा कोई आंदोलन जिहाद के नाम पर चलाया जाए तो निश्चित रूप से वह एक ग़लत आंदोलन बन जाएगा।

पैग़ंबरों में से किसी भी पैग़ंबर ने देश की आज़ादी या राजनीतिक आज़ादी के नाम पर कोई आंदोलन नहीं चलाया। हालाँकि अक्सर पैग़ंबरों के ज़माने में ठीक वही हालात मौजूद थे, जिनमें राजनीतिक लीडर वतन की आज़ादी का आंदोलन चलाया करते थे। जैसे पैग़ंबर यूसुफ़ के ज़माने में एक अनेकेश्वरवादी और विदेशी ख़ानदान मिस्र के ऊपर शासक था, मगर यूसुफ़ ने कथित प्रकार का राजनीतिक आंदोलन देश में नहीं उठाया। यूसुफ़ के बाद इस प्रकार का आंदोलन देश में उठा, मगर वह देश के क़ौमी लीडरों ने चलाया, न कि हज़रत यूसुफ़ व उनके साथियों ने।

कश्मीर के मुसलमान अगर अपने संघर्ष को इस्लामी बनाना चाहते हैं तो इन पर ज़रूरी है कि सबसे पहले वे अपने संघर्ष का वर्तमान रूप समाप्त करें। वे इस नीति से हट जाएँ कि उन्होंने पूर्णतः एक क़ौमी आंदोलन चलाया और इसके ऊपर इस्लाम का लेबल लगा लिया। इस प्रकार के आंदोलन को कभी ईश्वर की सहायता नहीं मिल सकती।

कश्मीर के मुसलमान अक्सर यह कहते हुए सुनाई देते हैं कि हम तो दो पाटों के बीच पिस रहे हैं। एक तरफ़ भारतीय फ़ौजी तो दूसरी तरफ़ मिलीटेंट्स, फिर इस पर वृद्धि करते हुए वे कहते हैं कि असल यह है कि पहले जब यह कश्मीरी जिहाद शुरू हुआ था तो इसमें अच्छे लोग थे, मगर अब कश्मीर की लड़ाई बुरे लोगों के हाथ में आ गई है।

यह एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है। हक़ीक़त यह है कि गोरिल्ला वार का परिणाम हमेशा और हर जगह यही होता है। गोरिल्ला वार पहले बज़ाहिर अच्छे लोग शुरू करते हैं, मगर बाद में इसमें बुरे लोग शामिल हो जाते हैं। इसलिए इसमें शामिल होकर उन्हें इस्लामी जिहाद या देश की आज़ादी का आश्रय (shelter) मिल जाता है, जिसकी छाँव में वे अपनी लूटमार को जायज़ बताकर जारी रख सकें।

इस प्रकार की सफाई कश्मीरियों के लिए कोई काम आने वाली नहीं। उन्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि गोरिल्ला जंग शुरू करना पहले दिन ही से एक ग़लती थी। इस प्रकार के हालात में अपनी ग़लती को मानना पहला क़दम होता है, न कि दूसरों को ज़िम्मेदार ठहराना।

संभव की राजनीति

जीवन नाम है दूसरे अवसर (second chance) को इस्तेमाल करने का। यह ऐतिहासिक वास्तविकता कश्मीर के बारे में भी उतनी ही सही है, जितना कि वह दूसरे देशों के बारे में। जैसे यह भारत के लिए पहला अवसर था कि आज़ादी के बाद वह एक संयुक्त भारत के रूप में दुनिया के नक़्शे पर उभरे, मगर यह पहला अवसर इसके भाग्य न हो सका। इसके बाद यहाँ के लीडरों ने दूसरे मिले हुए अवसर को इस्तेमाल किया और अब भारत बड़ी तेज़ी से एक शक्तिशाली और विकसित देश के रूप में उभर रहा है। यही मामला पाकिस्तान के साथ भी पेश आया। पाकिस्तानी लीडरों का पहला सपना यह था कि पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान, दोनों को संयुक्त रूप से एक बड़ा देश बनाएँ, मगर 1972 में यह पहला अवसर उनके लिए समाप्त हो गया। इसके बाद उन्होंने दूसरे प्राप्त अवसर को इस्तेमाल किया और अब पाकिस्तान मुस्लिम दुनिया के एक प्रमुख देश की हैसियत धारण कर चुका है। यही मामला किसी-न-किसी रूप में दुनिया के हर देश के साथ पेश आया। हर देश ने किसी-न-किसी रूप में पहले अवसर को खो दिया है, मगर दूसरे अवसर को इस्तेमाल करके उसने दोबारा नया जीवन प्राप्त कर लिया है।

यही मामला कश्मीर का है। कश्मीर के लीडरों ने 1947 से पूर्व कश्मीर के विषय में एक राजनीतिक सपना देखा था। यह मानो उनके लिए पहला अवसर था, मगर 1947 की क्रांति के बाद यह पहला अवसर उनके हाथ से

निकाल गया। अब कश्मीर के लोगों के लिए सही और संभव तरीक़ा यह है कि दूसरे अवसर को इस्तेमाल करें, वे दूसरे अवसर को इस्तेमाल करते हुए कश्मीर का नया निर्माण करें।

कश्मीरी लीडर कश्मीर को आज़ाद कश्मीर के रूप में देखना चाहते थे। बज़ाहिर यह असंभव न था, मगर 1947 के बाद हालात में जो निर्णायक परिवर्तन हुए, उसने इसे असंभव बना दिया कि भारतीय उपमहाद्वीप के नक़्शे में आज़ाद कश्मीर के नाम से कोई स्थायी देश बने। अब हालात के ऐतबार से जो चीज़ संभव है, वह केवल एक है और वह यह कि भारतीय विधान की धारा 370 के अनुसार वह भारत का एक भाग बने। कश्मीरी लीडर अब तक असंभव की राजनीति कर रहे थे, अब उन्हें सच्चाई को स्वीकार करते हुए वह संभव राजनीति करनी चाहिए, जो इस समय उनके लिए प्राप्ति के योग्य है।

कश्मीर के बारे में इस हक़ीक़त का अनुमान मुझे ईश्वर की कृपा से देश की आज़ादी के बाद ही हो गया था, फिर भी मेरा इस पर पहला लिखित बयान संभवत: वह है, जो 1968 में छपा था। यह पूरा बयान इस संकलन में दूसरे स्थान पर मौजूद है।

कश्मीरियों के लिए अकेला परामर्श यह है कि वे अतीत को भुलाकर वर्तमान में जीना सीखें। वे वर्तमान के संभव नक़्शे में अपने जीवन का निर्माण करें, न कि अतीत के नक़्शे में, जो कि अब व्यवहारतः काल्पनिक और ख़्याली बन चुका है।

कश्मीर के विषय में पाकिस्तान अगर हक़ीक़त को मानने की पॉलिसी अपना ले तो यह पाकिस्तान के लिए कोई नई चीज़ न होगी। इससे पहले वह बांग्लादेश (पूर्वी पाकिस्तान) के बारे में हक़ीक़त को स्वीकार करने की यही पॉलिसी अपना चुका है। ऐसी हालत में पाकिस्तान के लिए इस मामले में कोई कारण शेष नहीं रहता।

विश्वस्तरीय संभावनाएँ

कश्मीर के मुसलमानों को प्राकृतिक रूप से कई प्लस पॉइंट प्राप्त हैं, जिन पर उन्होंने संभवतः अभी तक विचार नहीं किया। इन्हीं में से एक यह है कि भारत के साथ मिलकर वे दुनिया के सबसे बड़े मुस्लिम राज्य की हैसियत प्राप्त कर

सकते हैं। न केवल पाकिस्तान और बंगलादेश से ज़्यादा, बल्कि किसी भी दूसरे मुस्लिम देश से ज़्यादा। यह कश्मीरी मुसलमानों का एक ऐसा प्लस पॉइंट है जिसे अगर वे विवेकी रूप से जान लें तो वे जीवन की सबसे बड़ी कृपा को प्राप्त कर सकते हैं यानी भरोसा और उच्च साहस का मालिक होना और हीन भावना से पूर्ण रूप से शुद्ध होना।

कश्मीर के मुसलमान अपने नादान लीडरों के ग़लत मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप अपने लिए पहला अवसर खो चुके हैं। फिर भी अब दूसरा अवसर उनके लिए मौजूद है। दूसरे अवसर को इस्तेमाल करके वे अब भी वह सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं, जिसे वे चाहते हैं।

यह कश्मीरीयों का सौभाग्य है कि जब वे प्रत्यक्ष में पहला अवसर खोकर दूसरे अवसर के दौर में दाख़िल हुए तो स्वयं ज़माने में ऐसी क्रांति आ गई कि सारी धरती एक वैश्विक गाँव (global village) का रूप धारण कर चुकी। अब राजनीतिक व्यवस्था का परिवर्तन स्वयं एक प्रासंगिक (relative) चीज़ बन चुका है। नए हालात में इंसान के लिए यह संभव हो गया है कि वह दुनिया के एक कोने में रहकर पूरी दुनिया से संपर्क क़ायम कर सके। वह बज़ाहिर चाहे सत्ता में न हो, तब भी वह सारे लाभ प्राप्त कर सकता है, जो पुराने ज़माने में केवल राजनीति व शासन का हिस्सा समझे जाते थे।

मौजूदा ज़माने में इसकी मिसाल सिंगापुर और जापान जैसे देश हैं। वे बज़ाहिर सीमित भूगोल के स्वामी होते हुए वैश्विक भूगोल के लाभ प्राप्त कर रहे हैं। यही वैश्विक संभावनाएँ कश्मीरियों के लिए भी पूरी तरह खुली हुई हैं। बशर्ते कि वे समझदारी से काम लेकर उन्हें अपने पक्ष में प्रयोग कर सकें।

दोनों की जीत

कभी ऐसा होता है कि दुनिया में दो लोगों या दो दलों के बीच विवाद हो जाता है। ज़मीन का एक हिस्सा एक दल के पास होता है और शेष हिस्सा दूसरे दल के पास। अब एक स्थिति यह है कि दोनों एक-दूसरे के हिस्सा को छीनने के लिए आपस में लड़ते रहें, यहाँ तक कि दोनों तबाह हो जाएँ। दूसरी स्थिति यह है कि दोनों इस पर सहमत हो जाएँ कि जो हिस्सा जिस दल के क़ब्ज़े में है, वह उसके पास रहे और दोनों पारस्परिक लड़ाई को छोड़कर अपने अपने हिस्से के निर्माण

और उन्नति में व्यस्त हो जाएँ। विवाद के समाधान के इस तरीक़े को अमेरिकी परिभाषा में 'मैं भी जीता, तुम भी जीते' (win-win solution) कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि जम्मू कश्मीर की समस्या पर भारत और पाकिस्तान के लिए यही बेहतरीन व्यावहारिक सूत्र है। दोनों देशों के क़ब्ज़े में जम्मू व कश्मीर का एक-एक हिस्सा है। दोनों अगर विन-विन सोलुशन के नियम पर अपने-अपने हिस्सा पर राज़ी हो जाएँ और झगड़े का रास्ता छोड़कर मिले हुए के निर्माण पर अपने भरपूर प्रयास करें तो निश्चित रूप से यह दोनों देशों के लिए बहुत फ़ायदेमंद साबित होगा। दोनों के यहाँ उन्नति की वह यात्रा आरंभ हो जाएगी, जो लंबे अंतराल से रुकी हुई है।

यह सही है कि पाकिस्तान के पास रियासत जम्मू-कश्मीर का जो हिस्सा है, वह तुलनात्मक कम है, मगर अनुभव बताता है कि इस दुनिया में क्षेत्रफल का कम या ज़्यादा होना मात्र प्रासंगिक है। असल महत्त्व यह है कि जो क्षेत्रफल मिला है, उसी को परिश्रम और समझदारी के साथ इस्तेमाल किया जाए। दुनिया में इसके बहुत से उदाहरण मौजूद हैं, जैसे— दुबई, हांगकांग, ताईवान, सिंगापुर आदि क्षेत्रफल के ऐतबार से बहुत छोटे हैं, मगर प्रगति और ख़ुशहाली की दृष्टि से वे बहुत से बड़े-बड़े देशों से बेहतर स्थिति में हैं।

इंसान एक मनावैज्ञानिक प्राणी है। यह वास्तव में मानसिकता ही है, जो किसी इंसान के व्यक्तित्व को साकार करती है। अनुभव बताता है कि किसी इंसान के अंदर अगर नकारात्मक मानसिकता उत्पन्न हो जाए तो उसका पूरा व्यक्तित्व नकारात्मक व्यक्तित्व बन जाएगा। इसके विपरीत अगर किसी की मानसिकता सकारात्मक मानसिकता बन जाए तो उसका पूरा व्यक्तित्व सकारात्मक व्यक्तित्व में ढल जाएगा।

जम्मू-कश्मीर की समस्या 1947 से भारत और पाकिस्तान के बीच दुश्मनी का कारण बनी हुई है। इस लंबे अंतराल में दोनों एक-दूसरे को प्रतिद्वंद्वी की दृष्टि से देख रहे हैं। दोनों का अहसास यह रहा है कि दूसरे पक्ष ने इसका अधिकार छीन रखा है। इस दोतरफ़ा अहसास के परिणामस्वरूप यह हुआ कि दोनों मानो 'मैं भी हारा, तुम भी हारे' की मानसिकता में जी रहे हैं। दोनों पड़ोसियों के बीच वह संतुलित वातावरण बाक़ी न रहा, जो दोनों ही की उन्नति के लिए आवश्यक था।

अब अगर दोनों देश समझदारी से काम लेते हुए 'मैं भी हारा, तुम भी हारे' की नकारात्मक मानसिकता से बाहर आ जाएँ और इसके बजाय दोनों 'मैं भी जीता, तुम भी जीते' के सकारात्मक फॉर्मूले को धारण कर लें तो अचानक दोनों

देशों के बीच उन्नति के नए द्वार खुल जाएँगे। इसके बाद वह असल भारत और वह असल पाकिस्तान बनना आरंभ हो जाएगा, जिसका सपना दोनों देशों के संस्थापकों ने देखा था।

अब तक दोनों पड़ोसी देश इस अहसास में जीते रहे कि सीमा के दोनों ओर से उन्हें एक दुश्मन देश का ख़तरा रहता है। इसके बाद दोनों यह महसूस करने लगेंगे कि सीमा की दूसरी ओर इनका एक मित्र देश मौजूद है। अब तक दोनों देश खोने के अहसास में जी रहे थे, इसके बाद दोनों देश पाने के अहसास में जीने लगेंगे। अब तक दोनों देश अपने आपको समस्याओं में घिरा हुआ समझते थे, इसके बाद दोनों देश यह महसूस करेंगे कि वे खुले हुए अवसरों के बीच हैं। बज़ाहिर भौगोलिक और राजनीतिक विभाजन के बावजूद दोनों देशों के बीच एक उच्च मानवीय और रचनात्मक एकत्व स्थापित हो जाएगा और यह चमत्कार दोनों के 'विन-विन सोलुशन' के तरीक़े को धारण करने के फलस्वरूप होगा।

समाधान की ओर

वर्तमान स्थिति में पाकिस्तान के लिए जो चुनाव (choice) है, वह लोकतांत्रिक राज्य और फ़ौजी राज्य के बीच नहीं है, बल्कि वास्तविक चुनाव जिन दो हालतों के बीच है, वह यह कि पाकिस्तान की यात्रा जिस गतिरोध (impasse) पर आकर रुक गई है, वहाँ से वह अपने आपको निकालकर अपनी यात्रा पुनः आरंभ करे या वह इसी बंद गली में पड़ा रहे, यहाँ तक कि वह दुनिया के रोड मैप से ग़ायब हो जाए।

किसी क़ौम के जीवन में कई बार ऐसा क्षण आता है कि क़ौम की विकासीय यात्रा रुक जाती है। इस समय आवश्यकता होती है कि एक साहसिक निर्णय लिया जाए, ताकि क़ौम की यात्रा सामान्य अंदाज़ में जारी हो सके। इस प्रकार का साहसिक निर्णय ज़्यादातर समय जनता की भावनाओं के ख़िलाफ़ होता है। यही कारण है कि इस प्रकार का साहसिक निर्णय अक्सर ऐसे लोग करते हैं, जो फौजी शासक की हैसियत रखते हों। प्रजातांत्रिक लीडर इस प्रकार का साहसिक निर्णय नहीं ले सकता, क्योंकि वह जनता के मतों से चुनकर राज्य तक पहुँचता है, इस आधार पर उसके लिए ऐसा कोई क्रांतिकारी निर्णय लेना असंभव हो जाता है, जो जनता की भावनाओं से अनुकूलता न रखता हो।

यहाँ मैं दो मिसालें पेश करूँगा। मुस्लिम इतिहास की एक मिसाल सलाहुद्दीन अय्यूबी (देहांत : 1193 ई०) की है। सलाहुद्दीन अय्यूबी का यह महान कारनामा समझा जाता है कि उसने ईसाई देशों के फ़ौजी आक्रमण से मुस्लिम दुनिया को बचाया, मगर सलाहुद्दीन को यह शक्तिशाली हाकिमाना हैसियत कैसे मिली, जबकि वे अपनी महान भूमिका अदा कर सके। जैसा कि ज्ञात है, सलाहुद्दीन अय्यूबी मिस्र के सुल्तान नूरूद्दीन ज़ंगी का एक फ़ौजी अफ़सर था। सुल्तान नूरूद्दीन की मृत्यु के बाद हालाँकि उसके बेटे मौजूद थे, लेकिन सलाहुद्दीन ने राज्य पर क़ब्ज़ा करके सुल्तान की पदवी प्राप्त कर ली। मुस्लिम इतिहासकारों ने आमतौर पर सलाहुद्दीन के इस क़ब्ज़े को उचित ठहराया है, क्योंकि यह क़ब्ज़ा हालाँकि प्रत्यक्षतः असंवैधानिक था, लेकिन अपने नतीजे के ऐतबार से वह एक महान राजनीतिक लाभ का कारण बना। उसी ने सलाहुद्दीन अय्यूबी के लिए इस मामले को संभव बनाया कि वह इस्लाम और मुसलमानों की सुरक्षा के लिए अपनी वह महान भूमिका अदा कर सके, जो कि उसने इसके बाद अदा की।

दूसरा उदाहरण फ़्रांस के चार्ल्स डेगाल (देहांत : 1970) का है। वह फ़्रांस की फ़ौज का एक जनरल था। इसके बाद उसने हालात से फ़ायदा उठाकर फ़्रांस की राजनीतिक सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया। प्रत्यक्षत: यह लोकतात्रिंक काम न था, मगर फ़्रांस के हित के लिए डेगाल ने एक ऐसा काम किया जो लोकतांत्रिक शासक नहीं कर सकता था।

क्योंकि जो शासक जनता के वोटों से चुनकर आए, वह जनता की भावनाओं की अनदेखी करके कोई साहसिक फ़ैसला नहीं ले सकता। जबकि कुछ हालात में किसी क़ौम के हित के लिए ज़रूरी हो जाता है कि जनता की भावनाओं को अनदेखा करके एक साहसिक फ़ैसला लिया जाए। जैसा कि मालूम है, उस समय फ़्रांस ने अफ़्रीक़ा के कई देशों, जैसे अल-जज़ायर आदि पर क़ब्ज़ा कर रखा था और उन्हें फ़्रांस के प्रांत (provinces) कहा जाता था। यह अयथार्थवादी (unrealistic) पॉलिसी फ़्रांस के लिए बहुत ज़्यादा घातक साबित हुई। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जारी होने वाली विकासीय दौड़ में वह यूरोप का एक ‘मर्द-ए-बीमार’ (sick man of Europe) बन गया। डेगाल ने क़ौमी भावनाओं से अलग होकर इस समस्या पर विचार किया। उसकी समझ में आया कि इस समस्या का एकल समाधान यह है कि अफ़्रीक़ा की फ़्रांसीसी कालोनियों

को एकतरफ़ा रूप से स्वतंत्र कर दिया जाए। यह क़दम फ़्रांस की जनता की भावनाओं के पूर्णतः ख़िलाफ़ था, मगर यह वह अलोकप्रिय फ़ैसला है जिसने फ़्रांस को आधुनिक विकासीय दौड़ में एक बड़ी शक्ति की हैसियत दे दी।

पाकिस्तान की वर्तमान परिस्थिति भी लगभग यही है। कश्मीर के सवाल पर भारत के ख़िलाफ़ पाकिस्तान की अघोषित जंग (undeclared war) ने पाकिस्तान को सख़्त नुक़सान पहुँचाया है। दुनिया उसे एक असुरक्षित देश के रूप में देखती है। विश्व वित्तीय संस्थान पाकिस्तान में निवेश (investment) के लिए तैयार नहीं। पाकिस्तानी जनता की बैचेनी ने पकिस्तान में अराजकता जैसी परिस्थिति पैदा कर दी है। देश की धार्मिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ विध्वंसकारी गतिविधियों का केंद्र बन गई हैं।

इन ख़राबियों का सबसे ज़्यादा दुखद परिणाम वह है, जिसे 'ब्रेन ड्रेन'(brain drain) कहा जाता है। इंसान प्राकृतिक रूप से प्रगति की दौड़ में आगे बढ़ना चाहता है, इसलिए किसी देश की प्रगति के लिए इतना काफ़ी है कि वहाँ के लोगों को काम के खुले अवसर दिखाई देते हों, जैसे— वहाँ शांति हो, बेहतरीन मूलभूत व्यवस्थाएँ (infrastructure) हों, आदमी को अपने परिश्रम का पूरा फल मिलता नज़र आए। अगर किसी देश में यह अवसर पूरी तरह मौजूद हों तो उस देश में हर आदमी सक्रिय हो जाएगा और देश स्वतः ही उन्नति करने लगेगा, मगर दुर्भाग्य से पाकिस्तान में ऐसा न हो सका। पाकिस्तान में 'पहले यथापूर्व स्थिति को बदलो' (change the status quo) के दृष्टिकोण के नतीजे में निरंतर हंगामी परिस्थिति बाक़ी है। वहाँ व्यावहारिक रूप से व्यक्ति के लिए उसके साहस के अनुसार काम के अवसर बहुत कम हो गए हैं। अतः ज़्यादातर साहसी और योग्य लोग पाकिस्तान छोड़कर बाहर चले गए। अमेरिका की यात्राओं के दौरान मैंने अमेरिका के बहुत से पाकिस्तानी निवासियों से पूछा कि आप अपने देश को छोड़कर यहाँ क्यों आ गए। लगभग सबका एक ही उत्तर था कि अमेरिका में काम के अवसर हैं, जबकि पाकिस्तान में काम के अवसर नहीं।

कश्मीर के विषय में पाकिस्तान की अवास्तविक नीति पाकिस्तान के विकासीय सैलाब के लिए बंद दरवाज़ा (trap door) बनी हुई है। यह एक हक़ीक़त है कि पाकिस्तान वर्तमान समय में विकासीय दौड़ में पिछड़ गया है। पाकिस्तान को इस पिछड़ेपन से निकालने के लिए केवल एक ही स्थिति है, वह यह कि पाकिस्तान समस्याओं से टकराने के बजाय अवसरों को इस्तेमाल करने

की नीति को अपनाए। वर्तमान हालात में इसका व्यावहारिक रूप यह है कि पाकिस्तानी लीडर कश्मीर के मामले में यथापूर्व स्थिति (status quo) को यथावत मानने पर राज़ी हो जाएँ। दूसरे शब्दों में यह कि कश्मीर में 'लाइन ऑफ़ कंट्रोल' (LOC) को कुछ ज़रूरी समायोजन (adjustment) के साथ दोनों देशों के बीच स्वीकृत सीमा क़रार दिया जाए। इस मामले में भारत और पाकिस्तान के बीच जो भौगोलिक और 'राजनीतिक स्टेटस को' (political status quo) बन गया है, उसे मानकर इस समस्या को सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाए। अपनी इस राय को मैं 1968 से बराबर प्रस्तुत कर रहा हूँ। ज़्यादा यह कि इस प्रकार का क्रांतिकारी निर्णय केवल एक अलोकतांत्रिक शासक ही कर सकता है। किसी लोकतांत्रिक शासक के लिए ऐसा ग़ैर-भावनात्मक निर्णय लेन संभव नहीं। लेखक ने पकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ (कार्यकाल : जून, 2001 से अगस्त, 2008) के बारे में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

"प्रत्यक्ष में ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ के लिए यही ऐतिहासिक काम भाग्य है। इस मामले में जो लोग राष्ट्रपति मुशर्रफ़ की सत्ता के अधिकार पर प्रश्न उठा रहे हैं, उनका उत्तर पूर्व फ़ौजी राष्ट्रपति मुहम्मद ज़ियाउल हक़ के उदाहरण में मौजूद है। इससे पहले जनरल ज़ियाउल हक़ ने यही किया था कि पाकिस्तान की सत्ता पर फ़ौजी क़ब्ज़ा किया और फिर एक कार्यवाही के द्वारा अपने को देश का राष्ट्रपति होने का ऐलान कर दिया। इस समय पाकिस्तान के इस्लामिस्टों से लेकर अमेरिका के विदेश मंत्रालय तक हर एक ने इसे स्वीकार कर लिया और क़ानून-ए-ज़रूरत (law of necessity) के अंतर्गत इसे उचित ठहराया। यह उदाहरण काफ़ी है कि राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ को भी इसी तर्क के साथ स्वीकार कर लिया जाए। यह एक दोहरा चरित्र है कि जहाँ निजी इंट्रेस्ट दिखाई दे, वहाँ आदमी प्रैक्टिकल बन जाए और जहाँ निजी इंट्रेस्ट का मामला न हो, वहाँ वह आदर्शवाद की बात करने लगे।

पाकिस्तान में जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ का सत्ता संभालना और फिर 20 जून, 2001 को देश के राष्ट्रपति की हैसियत से शपथ लेना बज़ाहिर एक असंवैधनिक घटना है, मगर मेरे निकट वह एक बिल्कुल सही समय की घटना है। वर्तमान परिस्थिति में पाकिस्तान को जो साहसपूर्ण निर्णय लेना है, वह राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ जैसा फ़ौजी शासक ही ले सकता है। चुनाव के द्वारा बनने वाले किसी लोकतांत्रिक शासक के लिए ग़ैर- जज़्बाती निर्णय लेना संभव नहीं।

इस समस्या का अकेला उपचार यह है कि पाकिस्तान अपनी जज़्बाती पॉलिसी को छोड़कर यथार्थवादी पॉलिसी अपनाए। वह कश्मीर के प्रश्न पर भारत से समझौता कर ले, ताकि देश में शांति का वातवरण पैदा हो और देश के माध्यमों को रचनात्मक गतिविधियों की ओर मोड़ा जा सके।

पिछले 55 वर्ष से पाकिस्तान की राजनीति एक ही प्रश्न पर केंद्रित रही है और वह है कश्मीर में स्थापित राजनीतिक परिस्थितियों को बदलना। अब अंतिम रूप से यह साबित हो चुका है कि यह पॉलिसी एक विनाशकारी पॉलिसी है। वह सिरे से कोई सकारात्मक नतीजा पैदा करने वाली ही नहीं, न अतीत और न वर्तमान के ऐतबार से और न ही भविष्य के ऐतबार से।

उल्लिखित प्रकार का क्रांतिकारी निर्णय लेना निश्चत रूप से एक कठिन काम है, लेकिन एक बार साहस करके पाकिस्तान ऐसा निर्णय ले ले तो इसके चमत्कारिक परिणाम बरामद होंगे। भारत के ख़िलाफ़ अघोषित जंग की हालत समाप्त होकर शांति स्थापित हो जाएगी। पाकिस्तानी क़ौम की नकारात्मक सोच सकारात्मक सोच में परिवर्तित हो जाएगी। पारस्परिक व्यापार के द्वार खुल जाएँगे, शिक्षा और संस्कृति और पर्यटन के क्षेत्र में दोनों देशों के बीच लेन-देन शुरू हो जाएगा। साहित्य के दोतरफ़ा आवागमन के नतीजे में दोनों देशों के बीच ग़लतफ़हमियाँ समाप्त हो जाएँगी और भाईचारे का माहौल बन जाएगा। भारत और पाकिस्तान की भाषा और संस्कृति बड़ी हद तक एक है। इसके बावजूद दोनों एक-दूसरे के लिए दूर के पड़ोसी (distant neighbors) बने हुए हैं। इसके बाद यह होगा कि दोनों क़रीब के पड़ोसी बन जाएँगे, जैसा कि वे वास्तव में हैं।

असल यह है कि जब भी कोई व्यक्ति या क़ौम काम करना चाहे तो उस समय पहले से ही कोई हालात मौजूद रहते है। अब सोचने के दो तरीक़े हैं— एक यह कि पहले यथापूर्व स्थिति को बदला जाए, ताकि काम करने के रास्ते पैदा हों। दूसरा यह कि यथापूर्व स्थिति को अपने हाल पर छोड़ते हुए शेष मुमकिन मैदानों में अपना काम जारी रखना।

यह तरीक़ा जिसे मैं सकारात्मक स्टेटस कोइज़्म (positive status quoism) कहता हूँ, यही बुद्धि के अनुसार है अर्थात जब आदर्श (ideal) की प्राप्ति संभव न हो तो प्रैक्टिकल (practical) पर राज़ी हो जाना। स्वयं इस्लाम की शिक्षा भी यही है। अतः क़ुरआन में आदेश दिया गया है कि सुलह बेहतर है (4:128) अर्थात विवादित मामलों में सबसे ज़्यादा बेहतर और फ़ायदेमंद

पॉलिसी समझौते की पॉलिसी है। दूसरे शब्दों में यह कि मतभेदी अवसरों पर टकराव का तरीक़ा छोड़कर समझौते का तरीक़ा अपनाना।

'स्टेटस को' को मानते हुए संबंधों को स्थायी आधार पर सुदृढ़ करने का यह प्रस्ताव कोई नया नहीं है। जवाहरलाल नेहरू के ज़माने में दोनों ओर की सरकार साफ़ तौर से इस प्रस्ताव को स्वीकृति कर चुकी थीं, यहाँ तक कि शेख़ अब्दुल्लाह दोनों के बीच में एक मध्यस्थ के रूप में पाकिस्तान पहुँच चुके थे, मगर नेहरू की अकस्मात मृत्यु से इस बनने वाले इतिहास की योजना पर काम पूरा न हो सका—

By 1956, Nehru had publicly offered a settlement of Kashmir with Pakistan over the ceasefire line (now converted into the LoC) on May 23, 1964, Nehru asked Sheikh Abdullah to meet Ayyub Khan in Rawalpindi in an effort to resolve the Kashmir imbroglio. The Pakistani leader agreed to a summit with Nehru- to be held in June, 1964. This message was urgently telegraphed to Nehru on May 26. But just as Nehru's consent reached Karachi, the world also learnt that Nehru had died in his sleep. And with that a major opportunity for a peaceful solution over Kashmir was also lost. (The Hindustan Times; June 18, 2001)

पाकिस्तान अगर ऐसा करे कि कश्मीर के बारे में वर्तमान स्थिति पर राज़ी होकर इसे स्थायी रूप से स्वीकार कर ले तो इसमें पाकिस्तान की या व्यापक अर्थों में मुस्लिम समुदाय की कोई हानि नहीं। कश्मीर, पाकिस्तान से अलग होने के बाद भी एक मुस्लिम इलाक़े के रूप में अपनी जगह बाक़ी रहेगा। फिर इसमें आख़िर नुक़सान की क्या बात है! इसके अतिरिक्त अनुभव बताता है कि भारतीय उपमहाद्वीप के जो मुसलमान भारत से जुड़े, वे आज पाकिस्तान और बांग्लादेश के मुसलमानों से ज़्यादा बेहतर हालत में हैं। इस अंतर का एक प्रतीकात्मक उदाहरण यह है कि भारत के हकीम अब्दुल हमीद साहब और पाकिस्तान के हकीम मुहम्मद सईद साहब सगे भाई थे। दोनों ने बड़े-बड़े काम किए, मगर हकीम सईद साहब को कराची में क़त्ल कर दिया गया, जबकि हकीम अब्दुल हमीद साहब शांति के साथ अपना काम करते रहे, यहाँ तक कि दिल्ली में उनकी प्राकृतिक मृत्यु हुई।

दूसरी बात यह कि पाकिस्तान का भारत से समझौता करना कोई साधारण बात नहीं। यह अपने शक्तिशाली पड़ोसी से विवाद को समाप्त करना है और अपने पड़ोसी से विवाद समाप्त करना मानो अपने ऊपर हर प्रकार की उन्नति के द्वार खोलना है। अपने संधि प्रतिद्वंद्वी से विवाद को समाप्त करना किस प्रकार तरक़्क़ी की सीढ़ी बनती है। इसका एक उदाहरण जापान है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले जापान और अमेरिका एक-दूसरे के दुश्मन बने हुए थे। जंग के बाद जापान ने अमेरिका से पूर्ण समझौता कर लिया। इस समझौते का नतीजा यह हुआ कि जापान विश्व के नक़्शे पर आर्थिक महाशक्ति के तौर पर उभरकर आया।

पाकिस्तान अपनी मौजूदा पॉलिसी से इस्लाम की बदनामी का कारण बन रहा है। अपनी मौजूदा पॉलिसी के आधार पर पाकिस्तान को यह करना पड़ा कि उसने भारत से नफ़रत को अपने लिए राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाया। इस ग़लत पॉलिसी का नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान (पूर्वी पाकिस्तान सहित) के लोग इस्लाम के नाम पर तो इकट्ठा न हो सके, मगर भारत से नफ़रत के नाम पर वे पूर्ण रूप से संगठित नज़र आते हैं। इस उदाहरण के आधार पर दुनिया को यह कहने का अवसर मिला कि इस्लाम के अंदर यह शक्ति नहीं कि वह मुसलमानों में परस्पर एकता क़ायम कर सके। इसी विचार का स्पष्टीकरण दिल्ली के अंग्रेज़ी अख़बार 'हिंदुस्तान टाइम्स' में 18 जून, 2001 के एक लेख में इस प्रकार किया गया है कि इस्लाम पाकिस्तान को इकट्ठा न कर सका, मगर भारत से दुश्मनी ने इसे एक कर दिया—

Islam does not hold Pakistan together anymore, but anti-Indianism does.

पाकिस्तान की समझौतावादी पॉलिसी का नतीजा यह होगा कि पाकिस्तान के लोगों के अंदर नया सकारात्मक विचार पैदा होगा। इसके बाद पाकिस्तानी एक नए दौर में प्रवेश कर जाएँगे, जबकि उनकी राष्ट्रीय एकता की बुनियाद भारत विरोधी सोच न हो, बल्कि उनकी राष्ट्रीय एकता की बुनियाद प्रो-इस्लाम (Pro-Islam) सोच हो जाए। यह फ़ायदा इतना बड़ा है कि अजब नहीं कि इसके बाद पाकिस्तान के ऊपर ईश्वर की रहमतों के द्वार खुल जाएँ और उसकी रहमत का कोई द्वार उसके ऊपर बंद न रहे।"

भारत के दौरे से पूर्व भेजा गया पत्र

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ को भेजे गए पत्र का अनुवाद—

“आदरणीय महोदय, राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ साहब, अस्सलाम अलैकुम!

भारत के लिए आपका दौरा (15-16 जुलाई) हम सबके के लिए ख़ुशी का कारण है। ईश्वर इस क़दम को पूर्ण सफलता अता फ़रमाए।

12 अक्टूबर, 1999 को जब ईश्वर ने आपको एक संभाव्य हवाई दुर्घटना से बचाया और पाकिस्तान की राजनीतिक सत्ता पर प्रतिष्ठित किया तो मुझे ‘रॉबर्ट क्लाइव’ की घटना याद आई। संभाव्य दुर्घटना से बचने के बाद रॉबर्ट क्लाइव की ज़ुबान से यह शब्द निकले थे— “ईश्वर ने मुझे किसी बड़े काम के लिए बचाया है” और इसके बाद उसने वास्तव में ब्रिटेन के इतिहास में एक बड़ा काम अंजाम दिया। मैं समझता हूँ कि यही इतिहास आपके साथ दोहराया जाने वाला है। मुझे ऐसा महसूस होता है कि ईश्वर ने आपको अपनी विशेष सहायता से बचाया, ताकि आप भारतीय उपमहाद्वीप में शांति स्थापना की वह आवश्यक भूमिका अदा कर सकें, जिसकी इतिहास को अर्ध शताब्दी से प्रतीक्षा है।

जब यह ख़बर आई कि आप भारत सरकार के निमंत्रण पर भारत का दौरा करने वाले हैं तो इस दौरे के बारे में मैंने कई लेख लिखे, जो यहाँ के उर्दू, हिंदी और अंग्रेज़ी अख़बारों में प्रकाशित हुए। जैसे साउथ इंडिया में बड़ी संख्या में छपने वाले अंग्रेज़ी दैनिक ‘दि हितावाद’ (The Hitavada) में मेरा एक विस्तृत साक्षात्कार इसके अंक 30 जून, 2001 में छपा। इसमें मिलिट्री रूलर की हैसियत से मैंने आपका पुरज़ोर बचाव किया था। अतः अख़बार ने इस इंटरव्यू को छापते हुए इसका यह शीर्षक दिया— Military ruler is a blessing for Pakistan

अगर आप अनुमति दें तो मैं कहना चाहूँगा कि कश्मीर के मामले में पाकिस्तान को वही पॉलिसी अपनानी चाहिए, जो प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कथन में इस प्रकार बताई गई है— ‘राजनीति संभव की कला है— Politics is the art of the possible.’

मैं एक शुभचिंतक की हैसियत से कश्मीर की समस्या पर इसके आरंभ ही से विचार करता रहा हूँ। 1968 से मैंने इस विषय पर लिखना शुरू किया और उर्दू, हिंदी व अंग्रेज़ी प्रेस में बार-बार लिखता रहा हूँ। इस समस्या पर

निष्पक्षतापूर्ण जायज़ा लेते हुए मेरा निश्चित मत यह है कि कश्मीर के बारे में पाकिस्तान के लिए केवल दो संभव विकल्प (option) हैं— एक यह कि इस मामले में पाकिस्तान डी-लिंकिंग पॉलिसी (delinking policy) अपनाए अर्थात कश्मीर के मुद्दे को शांतिपूर्ण वार्तालाप के ख़ाने में डालते हुए शेष समस्त मामलों में भारत से सामान्य संबंध स्थापित कर ले और दूसरा यह कि जम्मू कश्मीर में भौगोलिक आधार से जो 'स्टेटस को' बन गया है, उसे स्थायी सीमा के रूप में मानकर इस समस्या को हमेशा के लिए समाप्त कर दे। इसके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प व्यावहारिक रूप से संभव नहीं। तीसरी स्थिति निश्चित रूप से केवल विनाश की स्थिति है, न कि प्रगति और सफलता की स्थिति।

इस मामले का एक और अति महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आप जानते हैं कि मौजूदा ज़माने में विभिन्न स्थानों पर जिहाद के नाम से मिलिटेंसी चलाई जा रही है, इनमें से एक स्पष्ट नाम कश्मीर का है। इस मिलिटेंसी का लाभ तो कुछ नहीं हुआ, लेकिन इसका एक बड़ा नुक़सान यह हुआ कि इस्लाम की इमेज एक हिंसात्मक धर्म (violent religion) की हो गई। इस बदनामी ने मौजूदा ज़माने में इस्लाम के वैचारिक कूच (ideological march) को रोक दिया, जो एक हज़ार वर्ष से सारी दुनिया में निरंतर चली आ रही थी।

मुझे ऐसा महसूस होता है कि ईश्वर ने आपके लिए यह रोल मुक़द्दर किया है कि आप इस्लाम के परिचय की यात्रा को दोबारा जारी करें। अगर आप भारत के साथ स्थायी शांति समझौता कर लें तो इसका लाभ न केवल पाकिस्तान को मिलेगा, बल्कि इसके नतीजे में सारी दुनिया में एक नवीन स्वस्थ प्रक्रिया जारी हो जाएगी। इसके बाद यह होगा कि वर्तमान हिंसावादी रुझान एक शांतिपूर्ण दावती रुझान में बदल जाएगा, लोग नॉर्मल वातावरण में इस्लाम का अध्ययन करने लगेंगे।

वर्तमान टिप्पणीकार पाकिस्तान को संभावी रूप से न्यूक्लियर फ्लैश पॉइंट (nuclear flashpoint) के रूप में देखते हैं, लेकिन अगर आप साहस से काम लेकर हुदैबिया जैसा एक शांति समझौता कर लें तो पाकिस्तान विपरीत रूप से 'दावाह फ्लैश पॉइंट' (dawah flashpoint) बन जाएगा।

मुझे अनुमान है कि कश्मीर के मामले में समझौते की पॉलिसी अपनाना आपकी लोकप्रियता के लिए एक जोखिम (risk) की हैसियत रखता है, मगर उस आशंका का उत्तर क़ुरआन में इस तरह दिया गया है— 'सुलह बेहतर है' (4:128)। इसका मतलब यह है मतभेदी मामलों में टकराव की पॉलिसी को

छोड़कर समझौते की पॉलिसी अपनाई जाए तो नतीजे के ऐतबार से वह ज़्यादा बेहतर साबित होगी।

जीवन की हर बड़ी सफलता का संबंध जोखिम से होता है। आप जानते हैं कि अफ्रीक़ा में फ्रांस की उपनिवेशवादी पॉलिसी ने फ्रांस को बेहद कमज़ोर कर दिया था। जनरल डेगाल ने साहस करके एकतरफ़ा तौर पर इस पॉलिसी को समाप्त कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि फ्रांस में जनरल डेगाल की लोकप्रियता बहुत कम हो गई, मगर आज इस 'डेगालिज़्म' को एक सफल विदेश पॉलिसी समझा जाता है, क्योंकि इस पॉलिसी के नतीजे में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद फ्रांस को एक नई शक्ति मिली।

इस पत्र के साथ मैं दो चीज़ भेज रहा हूँ। एक अपनी किताब 'Islam Rediscovered' और दूसरी मासिक 'अल-रिसाला' का अंक अगस्त, 2001. मुझे आशा है कि आप इसे पढ़ने के लिए कुछ समय निकाल सकेंगे। इस अध्ययन से मेरा तात्पर्य और ज़्यादा स्पष्ट हो जाएगा। ईश्वर हर तरह आपका मददगार हो।

नई दिल्ली
आशीर्वाद के साथ
9 जुलाई, 2001
वहीदुद्दीन ख़ान"

नशिस्तंद व गुफ़्तंद बर्ख़ास्तंद

उपरोक्त शीर्षक का मतलब है कि आइए, बैठिए और इधर-उधर की हाँककर चलते बनिए। पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ 14 जुलाई, 2001 को इस्लामाबाद से दिल्ली आए। यहाँ भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी से उनकी पाँच बार मुलाक़ात हुई। इस मुलाक़ात का ख़ास मक़सद कश्मीर की समस्या का हल तलाश करना था, मगर बातचीत असफल रही और 16 जुलाई, 2001 की रात को वापस वे इस्लामाबाद चले गए।

इस उच्चस्तरीय बातचीत की नाकामी का कारण क्या था। सूचनाओं के अनुसार, इसका कारण यह था कि भारतीय प्रधानमंत्री चाहते थे कि जम्मू व कश्मीर में भारत और पाकिस्तान के बीच रानीतिक और भौगोलिक ऐतबार से जो 'स्टेटस को' स्थापित हो गया है, उसे पिछली हालात पर बाक़ी रखते हुए

दूसरे समस्त मामलों में दोनों देशों के बीच संतुलित संबंध पुनः स्थापित कर लिए जाएँ, ताकि दोनों देशों के बीच उन्नति का रुका हुआ सफ़र जारी हो सके, मगर पाकिस्तानी राष्ट्रपति का संभवतः यह आग्रह था कि पहले जम्मू-कश्मीर की वर्तमान स्थिति को तोड़कर उनके दावे के अनुसार पूरी रियासत पर पाकिस्तान का अधिकार स्वीकार कर लिया जाए। इसके बाद ही वे दोनों देशों के बीच सामान्य संबंधों की स्थापना पर राज़ी होंगे। भारतीय प्रधानमंत्री पाकिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष की बात न मान सके। नतीजा यह हुआ कि दोनों देशों के बीच बातचीत विफल होकर रह गई।

जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ जब भारत आए तो शुरू में उन्होंने ऐसी बात कही, जिससे अनुमान होता था कि वे समझौते का संकल्प लेकर आए हैं। जैसे उन्होंने राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली में भाषण देते हुए कहा था कि कश्मीर के विवाद का कोई फ़ौजी समाधान (military solution) संभव नहीं। इसी प्रकार आगरा की प्रेस कॉन्फ्रेंस में उन्होंने हक़ीक़त की स्वीकृति (acceptance of reality) की बात कही। उन्होंने यह भी कहा कि मैं खुले ज़हन के साथ भारत आया हूँ, मगर वे बाद में हक़ीक़तपसंदाना समझौता किए बिना पाकिस्तान वापस चले गए।

जहाँ तक मेरा अनुमान है, उन्हें संभवतः पाकिस्तानी जनता की ओर से कठोर भावनात्मक प्रतिक्रिया की आशंका थी। इस आधार पर वे समझौते का तरीक़ा न अपना सके और नाकाम वापस चले गए। एक टिप्पणीकार के शब्दों में जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ को मालूम था कि पाकिस्तान की भावुक जनता, जो क्रिकेट के मैदान में भारत के मुक़ाबले में अपनी हार को सहन नहीं कर पाती, वह कश्मीर में भारत के मुक़ाबले में अपनी राजनीतिक हार को कैसे सहन कर सकेगी।

मगर यह कोई साधारण मामला नहीं। पाकिस्तान राष्ट्राध्यक्ष को जानना चाहिए कि इनका सामना केवल एक मामले से नहीं है, बल्कि वह एक ही समय दो मामलों के बीच हैं। अगर वे कश्मीर के मामले में भारत से समझौते (compromise) का तरीक़ा अपनाएँ तो पाकिस्तानी जनता उसे अपनी राजनीतिक हार समझकर जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ से क्रोधित हो जाएगी, लेकिन दूसरी ओर कठोरतम समस्या यह है कि अगर वे कश्मीर के प्रश्न पर समझौता न करें तो पाकिस्तान की आर्थिक तबाही में ज़्यादा वृद्धि होगी। इसके नतीजे में पाकिस्तान में निराशा फैलेगी और पाकिस्तानी जनता की दृष्टि में वे अवाछंनीय शासक बन जाएँगे और फिर वे भी उसी प्रकार राजनीतिक पतन का शिकार होंगे,

जिस प्रकार उनके पूर्वज ठीक इसी कारण से राजनीतिक पतन का शिकार हुए।

ऐसी हालत में पाकिस्तान के फ़ौजी राष्ट्रपति के सामने एक साथ दो बुराइयों में से एक के चुनाव की समस्या है, न कि केवल एक बुराई की समस्या। वे किसी भी हाल में अपने राजनीतिक कैरियर को बुराई के मामले से नहीं बचा सकते। अब उन्हें फ़ैसला करना है कि कथित दोनों बुराइयों में से कौन-सी छोटी बुराई (lesser evil) है और कौन-सी बड़ी बुराई (greater evil)।

इस मामले में मुझे राय देनी हो तो मैं कहूँगा कि कश्मीर के विषय में भारतीय आधार को स्वीकार कर लेना पाकिस्तान के लिए छोटी बुराई है, क्योंकि ऐसी हालत में जो कुछ होगा, वह केवल यह कि एक चीज़ जिसे पाकिस्तान वर्तमान में खो चुका है, उसे खोए जाने को स्वीकृत कर लिया जाए। पाकिस्तान को इसकी यह नक़द क़ीमत मिलेगी कि उसके निर्माण व प्रगति के समस्त द्वार अचानक खुल जाएँगे, जो अब तक मानो उसके ऊपर बंद पड़े हुए थे।

इसके विपरीत अगर पाकिस्तान कश्मीर के बारे में भारतीय आधार को स्वीकार न करे और भारत से अपनी अघोषित लड़ाई जारी रखे तो इसका विनाशकारी नुक़सान यह होगा कि जिस चीज़ से पाकिस्तान वंचित हो चुका है, उससे उसका वंचन तो यथावत क़ायम रहेगा और ज़्यादा नुक़सान यह होगा कि पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति की तबाही में और ज़्यादा वृद्धि होगी, जो पहले ही असहनीय सीमा को पहुँच चुकी है।

ख़ुशगवार आरंभ, नाख़ुशगवार अंत

पाकिस्तान का इस्लामिक ग्रुप और भारत का रूढ़िवादी (fundamentalist) ग्रुप दोनों की आस्थाएँ प्रत्यक्ष में एक-दूसरे से अलग हैं, मगर व्यावहारिक रूप से दोनों का केस लगभग एक समान है। दोनों का दावा है कि वे अपने देशों में अकेले मुक्तिदाता हैं, मगर यह भी सत्य है कि इन दोनों दलों ने अपने देशों को जितनी हानि पहुँचाई है, इतनी हानि बिल्कुल भी किसी और दल ने नहीं पहुँचाई।

इस परिस्थिति का साझा कारण यह है कि दोनों हालाँकि अपनी अपनी दृष्टि से देश के हितैषी हैं, मगर इसी के साथ दोनों समान रूप से अतिवादी (extremists) हैं और अतिवाद के साथ एक घर को भी कामयाबी के साथ नहीं

चलाया जा सकता, फिर पूरे देश को किस प्रकार अतिवाद के द्वारा कामयाबी के साथ चलाया जा सकता है।

अब पाकिस्तान के इस्लामिक ग्रुप को लीजिए। यह लोग लगभग 55 वर्ष से पाकिस्तान में सरगर्म है। अपनी कई माँगों को मनवाने में बज़ाहिर वे सफल हुए हैं, मगर उनकी यह सफलता व्यापक अर्थों में उनके देश के लिए सकारात्मक परिणाम का कारण न बन सकी।

पाकिस्तान की राजनीति से इसके बहुत से उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ हम कश्मीर के मामले को लेंगे। इस मामले में पाकिस्तान के इस्लामिक ग्रुप ने अपने विशेष स्वभाव के अंतर्गत यह किया कि उन्होंने अपने कश्मीरी आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन न बताते हुए उसे जिहाद का शीर्षक दे दिया।

क़ौमी आंदोलन में हमेशा निर्णायक चीज़ वास्तविकताएँ (reality) होती हैं। इस आधार पर क़ौमी आंदोलन में हमेशा लचक और एडजस्टमेंट की गुंजाइश रहती है, मगर जिहाद एक धामिर्क विश्वास की बात है। जब किसी मामले को जिहाद का मामला क़रार दे दिया जाए तो इससे जुड़े हुए लोगों में लचक और एडजस्टमेंट का स्वभाव समाप्त हो जाता है, क्योंकि जिहाद के विषय में उनकी आस्था यह बताती है कि अगर तुम इस मार्ग में कुछ प्राप्त न कर सको, तब भी इसमें जान देना तुम्हारी सफलता है, क्योंकि जिहाद के मार्ग में मरकर तुम सीधे स्वर्ग में पहुँच जाओगे।

घटनाएँ बताती हैं कि पाकिस्तान के धर्मनिरेपक्ष वर्ग कश्मीर के मामले में भारत के साथ एडजस्टमेंट की नीति धारण करने में ज़हनी तौर पर राज़ी हैं, मगर वहाँ के इस्लामिस्ट्स इस मामले में उनके ख़िलाफ़ एक दीवार बनकर 'रेयर गार्ड' (rear guard) की तरह खड़ा है और पीछे हटने नहीं देता। इसने उत्तेजनापूर्ण भाषण करके इस मामले को इतना ज़्यादा भावनात्मक बना दिया है कि अब पाकिस्तान के बहुत से लोग यह समझने लगे हैं कि हम श्रीनगर पहुँचे या न पहुँचे, मगर इस राह में लड़कर हम स्वर्ग तक आवश्यक पहुँच सकते हैं। इस प्रकार पाकिस्तान का इस्लामिक ग्रुप एडजस्टमेंट की पॉलिसी धारण करने में एक स्थायी रुकावट बन गया है, जबकि इतिहास का अनुभव बताता है कि एडजस्टमेंट की पॉलिसी ही किसी क़ौम के लिए सफलता का एकल माध्यम है।

अब भारत को लीजिए। भारत का रूढ़िवादी ग्रुप भी अपने हालात के ऐतबार से वही नकारात्मक भूमिका अदा कर रहा है, जो पाकिस्तान का

इस्लामिक वर्ग अपने हालात के लिहाज़ से कर रहा है। धार्मिक रूढ़िवादिता ठीक अपनी प्रकृति के आधार पर अपने आपको सत्य से परिपूर्ण (self-righteousness) समझने का स्वभाव उत्पन्न करती है। इस स्वभाव का और ज़्यादा नतीजा यह होता है कि आदमी के अंदर अतिवाद और कट्टरता की मानसिकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे लोगों का हाल यह होता है कि वे अपने आपको जानते हैं, मगर वह दूसरों को नहीं जानते। वे अपने आपको हर हाल में सही और दूसरों को हर हाल में सही नहीं समझते। वे केवल ख़ुद को रिआयत का पात्र समझते हैं, दूसरों की रिआयत करना उनकी नैतिकता की सूची में शामिल नहीं होता।

आज़ादी के बाद भारत के इतिहास में इस रूढ़िवादी भूमिका की मिसालें काफ़ी पाई जाती हैं। यहाँ हम कश्मीर के संबंध में इस मामले की एक ताज़ा मिसाल का उल्लेख करेंगे।

भारत सरकार के निमंत्रण पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ ने भारत का दौरा किया। वे 14 जुलाई, 2001 की सुबह को यहाँ आए और 16 जुलाई, 2001 की रात को वापस चले गए। इस दौरान दिल्ली और आगरा में उनकी मुलाक़ात भारत के लीडरों से हुई। प्रारंभ में बज़ाहिर मुलाक़ात का यह प्रोग्राम आशाजनक था, मगर बाद में ऐसी कटुता पैदा हुई कि कोई साझा घोषणा जारी किए बिना यह शिखर सम्मलेन समाप्त हो गया और दौरा नाकाम होकर रह गया।

इस विफलता का कारण क्या था? मेरे निकट इसका कारण कुछ रूढ़िवादी लीडरों का बेलचक बरताव है। वह अपने कथित ज़हन के आधार पर संतुलित अंदाज़ में मामला न कर सके और शिखर सम्मलेन नाकाम होकर रह गया। दौरा नाकाम हो गया।

मैं निजि रूप से पिछले 40 वर्ष से यह राय रखता हूँ कि कश्मीर की समस्या का अकेला संभव समाधान यह है कि वर्तमान जंगबंदी रेखा या लाइन ऑफ़ एकचुअल कंट्रोल (LOAC) को भारत और पाकिस्तान के बीच स्थायी सीमा के रूप में मान लिया जाए, लेकिन ज़ाहिर है कि पाकिस्तान के लिए यह एक कड़वा घूँट है। इसलिए इस प्रस्ताव को घटना बनाने के लिए हमें अंतिम श्रेणी तक युक्ति और बुद्धिमानी से काम लेना होगा। इसके बिना इस मामले में सफलता संभव नहीं। अपने विपक्षी का अनादर करके आप इसे जीत नहीं

सकते, निश्चय ही रिआयत और मुहब्बत का मामला करके निश्चित रूप से आप इसे जीत सकते हैं।

मैंने राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ की यात्रा से पहले उन्हें एक पत्र (9 जुलाई, 2001) भेजा था। यह पत्र दृष्टिगत संग्रह में शामिल है। राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ जब भारत आए तो उन्होंने कई ऐसे संकेत दिए, जिन से अनुमान होता था कि वे संधि और समझौते पर तैयार हैं। उन्होंने कहा कि मैं खुले ज़हन (open mind) के साथ यहाँ आया हूँ। दिल्ली में अपने पैतृक घर का विशेष दर्शन करके उन्होंने यह प्रभाव दिया कि वह अपने जन्म के ऐतबार से एक भारतीय हैं, इसलिए प्राकृतिक रूप से उनके दिल में भारत के लिए नरमी (soft corner) है। राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली की पार्टी में उन्होंने भाषण देते हुए कहा कि कश्मीर के विवाद का कोई फ़ौजी समाधान मौजूद नहीं।

There is no military solution to the Kashmir Dispute.

उन्होंने आगरा की प्रेस कॉन्फ्रेंस में सत्य को स्वीकार करने (acceptance of reality) की बात कही। उन्होंने कहा कि हमें सीढ़ी-दर-सीढ़ी (step by step) आगे बढ़ना होगा आदि।

पाकिस्तानी अध्यक्ष के इस प्रकार के संकेत स्पष्ट रूप से यह बता रहे थे कि वे समझौतावादी शैली धारण करने के लिए तत्पर हैं। वे कश्मीर के विवादित मामले को समाप्त करने का निश्चय लेकर आए हैं, मगर हमारे लीडर अपने रूढ़िवादी (fundamentalist) स्वभाव के आधार पर पाकिस्तानी राष्ट्रध्यक्ष के इन हाव-भाव (gestures) को कैश (cash) न कर सके। इस तरह एक इतिहास बनते-बनते रह गया।

उदाहरणार्थ हमारे रूढ़िवादी लीडरों को जानना चाहिए था कि जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ जो भी संधि करें, इसके बाद उन्हें अपने देश पाकिस्तान वापस जाना है। इसलिए हर बात ऐसी नीतिपूर्ण शैली से कही जाए कि परवेज़ मुशर्रफ़ जब वापस होकर इस्लामाबाद पहुँचें तो वहाँ उनका स्वागत काले झंडों से न किया जाए, मगर हमारे लीडरों के बेलचक बरताव और अविवेकपूर्ण कथन का परिणाम यह हुआ कि समझौते की वार्ता की राह पर आने के बाद अचानक इस अंजाम से दो-चार हुई जिसे एक भारतीय पत्रकार ने 'ड्रामाई मोड़' (dramatic turn) के शब्द से ताबीर किया था। ख़ुशगवार आरंभ का यह नाख़ुशगवार अंजाम क्यों हुआ, इसका काफी विस्तार मीडिया में आ चुका है, यहाँ इसे दोहराने की ज़रूरत नहीं।

विवादित मामलों का निपटारा गहरी बुद्धिमता के साथ दूसरे पक्ष का पूर्ण सम्मान व रिआयत की माँग के अंतर्गत होता है। निजी इंट्रेस्ट के मामले में हर आदमी को मालूम है कि समस्या के समाधान के लिए इन दोनों पहलुओं का आदर अति आवश्यक है, मगर जब मामला क़ौमी इंट्रेस्ट का हो तो लोग इस हक़ीक़त को इस प्रकार भूल जाते हैं, जैसे कि वे इसे जानते ही न हों।

करने का काम

कश्मीर का पिछले दो सौ वर्ष का इतिहास देखा जाए तो वह तीन बड़े दौरों से गुज़रते हुए दिखाई देगा। पहले दौर में कश्मीर के लोग सूफ़ियों से प्रभावित हुए हैं। कश्मीर में सूफ़ियों का आना कश्मीरियों के लिए इस पहलू से फ़ायदेमंद साबित हुआ कि उनके द्वारा कश्मीरियों को इस्लाम का उपहार मिला। कश्मीरियों की अधिसंख्या इस्लाम की परिधि में प्रवेश कर गई।

सूफ़ियों ने कश्मीरियों को धार्मिक ऐतबार से इस्लाम तो दिया, मगर वे कश्मीरियों की बड़े मायने में जीवन का कोई मिशन न दे सके। इसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीरियों के लिए इस्लाम ज़्यादातर संस्कृति के अर्थ के समान बनकर रह गया। बड़े मायने में उन्हें वह विवेक और वह प्रोग्राम नहीं मिला, जो कश्मीरियों के पूरे जीवन को संपूर्ण उद्देश्य दे सके। यही कारण है कि हम देखते हैं कि कश्मीर के अधिकतर लोगों का जीवन बुज़ुर्गों की क़ब्रों या दरगाहों के आस-पास घूमता है। विशेष प्रकार के जापों, मंत्रोच्चारणों को वे इतने आयोजन के साथ पढ़ते हैं, जैसे कि वही सारा इस्लाम हो। इस दरगाही इस्लाम या सांस्कृतिक इस्लाम का नुक़सान यह हुआ कि कश्मीरियों में वह विवेक उन्नति न कर सका, जो इनके अंदर सही और ग़लत का ज्ञान पैदा करे। इस बेख़बरी का यह परिणाम हुआ कि वे बार-बार ऐसी नकारात्मक राजनीति में लिप्त होते रहे जिसका कोई वास्तविक संबंध इस्लाम से न था, यहाँ तक कि सांसारिक ऐतबार से भी इसका कोई लाभ कश्मीरियों को मिलने वाला न था।

इस्लाम का एक लाभ यह है कि वह आदमी को एक आध्यात्मिक केंद्र दे, वह आदमी को ईश्वर की इबादत के तरीक़े बताए, वह आदमी को एक ईश्वरीय संस्कृति प्रदान करे। जहाँ तक मेरा अनुमान है, कश्मीरी लोग इस पहलू से इस्लाम से परिचित हुए, मगर एक और पहलू से बड़ी हद तक इस्लाम के लाभों से वंचित रहे।

यह दूसरा पहलू वह है, जिसे बौद्धिक निर्माण (intellectual development) कहा जा सकता है। कश्मीरियों की शिक्षा-दीक्षा इस तरीक़े पर न हो सकी, जो उनके अंदर इस्लामी विवेक पैदा करे, जो उन्हें सोचने के वह तरीक़े बताए जिनकी रोशनी में वे जीवन के विभिन्न विभागों में इस्लाम के अनुसार निर्णय ले सकें। यह कहना शायद उचित होगा कि कश्मीरियों को मज़हबी ऐतबार से तो इस्लाम मिला, मगर बौद्धिक क्रांति के ऐतबार से वे बड़ी हद तक इस्लाम से बेख़बर रहे।

इस मामले की पहली घटना वह है, जबकि कुछ लीडरों के नारे पर कश्मीरी लोग भूतपूर्व डोगरा राज के ख़िलाफ़ गतिवान हो गए। इस्लामी दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह एक भावनात्मक हंगामा उत्पन्न करना था। अतः हम देखते हैं कि प्रत्यक्षतः सफल होने के बावजूद कश्मीरियों के भविष्य के निर्माण में इस आंदोलन का कोई हिस्सा नहीं। डोगरा राज के ख़िलाफ़ यह आंदोलन अधिकतर कुछ लीडरों के राजनीतिक साहस का प्रकटीकरण था, न कि वास्तविक अर्थों में इस्लामी विवेक का परिणाम।

1947 के बाद कश्मीरियों के बीच आंदोलनों का नवीन युग आरंभ हुआ। इस युग में कश्मीर की जनता दो बड़े आंदलनों से प्रभावित हुई। एक वह, जो धर्मनिरपेक्षता के नाम पर उठा और दूसरा वह, जो इस्लाम के नाम पर उठा। यह दोनों ही आंदोलन दोबारा कुछ लीडरों के राजनीतिक उद्देश्यों की पैदावार थे, वे वास्तविक अर्थों में इस्लामी विवेक के अंतर्गत उत्पन्न नहीं हुए।

सेकुलर लीडरों ने 1947 के बाद आज़ाद कश्मीर या पाकिस्तानी कश्मीर के नाम पर अपने आंदोलन चलाए। इन आंदोलनों का यह लाभ तो हुआ कि कुछ लोगों को शोहरत व भौतिक लाभ प्राप्त हुए, मगर कश्मीरी जनता के लिए वह एक ऐसे लक्ष्य की तरफ़ दौड़ने के मतलब समान था जिसकी कोई मंज़िल नहीं। जिसका आरंभ तो है, मगर इसका कोई अंत नहीं।

दूसरा वर्ग वह है जिसने इस्लामी कश्मीर और निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा (शरई व्यवस्था) के नाम पर अपने आंदोलन चलाए। वे लोग प्रत्यक्ष में इस्लाम का नाम लेते थे, लेकिन उनके पास ख़ुशफ़हमियों (wishful thinking) और भावनाओं (emotions) के सिवा कोई और पूँजी न थी। वे अपनी काल्पनिक भावनाओं के पीछे दौड़ रहे थे और दूसरों को दौड़ा रहे थे और वे समझते थे कि वे इस्लाम की मंज़िल की ओर दौड़ रहे हैं, मगर हक़ीक़त यह थी कि उनका आंदोलन इस्लाम के

लिए तो एक तरफ़ स्वयं दुनिया के ऐतबार से भी कोई वस्तुतः लाभ कश्मीरियों को देने वाला न था। यह दुनिया वास्तविकताओं की दुनिया है। यहाँ भावुक राजनीति के द्वारा कोई सकारात्मक परिणाम बरामद करना संभव नहीं।

इन आंदोलनों का बेनतीजा होने ही का यह परिणाम है कि कश्मीरी आंदोलन 1989 के बाद हिंसा के मार्ग पर चल पड़ा। अंतिम चरण में हिंसा का जो विनाशकारी आंदोलन कश्मीरियों के बीच उभरा, वह वास्तव में कश्मीरियों को निराशावादी मानसिकता का परिणाम था। पहले वे अपने नादान लीडरों के अनुसरण में उन राहों की ओर दौड़े, जिनका कोई नतीजा न था और जब प्रकृति के क़ानून के अंतर्गत उनके आंदोलनों का कोई परिणाम सामने नहीं आया तो निराशा और हताशा का शिकार होकर उन्होंने सशस्त्र संघर्ष आरंभ कर दिया।

कश्मीरियों के लिए सही तरीक़ा यह है कि वे अपने अतीत का दोबारा मूल्यांकन (re-assessment) करें। वे अतीत की ग़लतियों को स्वीकार करके अपने भविष्य के निर्माण की नई योजना बनाएँ। यह एक हक़ीक़त है कि कश्मीरी लोग पहला अवसर (first chance) खो चुके हैं। अब उनके लिए केवल एक संभावना यह है कि वे दूसरे अवसर (second chance) को बौद्धिक रूप से समझें और दिल की पूरी तत्परता के साथ उसे अपने पक्ष में इस्तेमाल करें।

कश्मीरियों के लिए अपने जीवन की नव-निर्माण योजना तीन बिंदुओं पर आधारित हो सकती है। वे तीन भेद यह हैं— शिक्षा, आर्थिक स्थिति और दावत।

कश्मीरियों को चाहिए कि वे राजनीति और हथियार से पूर्णत: असंबद्ध (disassociate) हो जाएँ, वह अपनी पूरी नस्ल को शिक्षा के मार्ग पर लगा दें। जम्मू कश्मीर के पूरे क्षेत्र में बड़े पैमाने पर स्कूल और मदरसे खोले जाएँ। कम-से-कम 25 वर्ष तक वे यह करें कि अपने बच्चों को हर दूसरी गतिविधि से हटाकर शिक्षा के मार्ग पर लगा दें।

दूसरा, आर्थिक मैदान है। जम्मू कश्मीर के राज्य में व्यापार और उद्योग के असाधारण अवसर मौजूद हैं। कश्मीरी मुसलमानों ने अभी तक इन अवसरों से बहुत कम लाभ उठाया है। अब उन्हें चाहिए कि वे अपनी नई मानसिकता के अंतर्गत पूरी तरह एकाग्र होकर व्यापार और उद्योग की ओर ध्यानकर्षित हो जाएँ।

तीसरा क्षेत्र दावत का है। दावत से मेरा तात्पर्य ग़ैर-मुस्लिमों को इस्लाम से परिचित कराना है। इस ऐतबार से कश्मीरियों के लिए दो बड़े मैदान खुले हुए हैं।

एक वह ग़ैर-मुस्लिम लोग, जो जम्मू व कश्मीर में बसे हुए हैं और वहाँ के राज्य के नागरिक हैं। दूसरे वह ग़ैर-मुस्लिम लोग, जो पर्यटक के रूप में कश्मीर आते हैं।

कश्मीर में अगर शांति स्थापित हो जाए तो वहाँ पर्यटन का बहुत बड़ा मैदान खुल जाएगा। यह पर्यटन एक ऐतबार से इंडस्ट्री है और दूसरे ऐतबार से इसका मतलब यह है मदऊ* स्वयं दाई** के पास आ रहा है। यह टूरिज़्म की संभावना इतनी बड़ी है कि अगर कश्मीर के लोग इसे उचित रूप से इस्तेमाल करें तो वही उनके लोक-परलोक की सफलता के लिए पर्याप्त हो जाए।

कश्मीर स्वर्ग का नमूना

कश्मीर को सैकड़ों वर्ष से जन्नत नज़ीर कहा जाता है अर्थात जन्नत का नमूना। एक फ़ारसी शायर ने जब कश्मीर को देखा तो उसने कश्मीर के बारे में यह शेर कहा कि अगर स्वर्ग धरती पर है तो वह यही कश्मीर है—

''गर फ़िदौस बरूए ज़मीन अस्तः हमीन अस्तो हमीन अस्तो हमीन अस्त''

पिछले ज़माने में जबकि कश्मीर को जन्नत नज़ीर कहा जाता था, उस समय कश्मीर में कश्मीरी जनता का शासन न था। पहले यहाँ मुग़लों की सत्ता थी। इसके बाद यहाँ अंग्रेज़ शासन करने लगे। इसके बाद यहाँ डोगरा राजा की सत्ता स्थापित हुई। इस पूरी मुद्दत में कश्मीर एक जन्नत नज़ीर क्षेत्र बना रहा। सारी दुनिया के लोग इसे देखने के लिए आते रहे। भारतीय उपमहाद्वीप में ताजमहल अगर इमारती हुस्न का उच्च नमूना था तो कश्मीर क़ुदरती हुस्न का उच्च नमूना।

इस इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि कश्मीर को कश्मीर बनाने के लिए इसकी आवश्यकता नहीं कि वहाँ तथाकथित रूप से 'कश्मीरी जनता' का राज्य हो। राजनीतिक सत्ता वास्तव में एक प्रकार का सिरदर्द है। यह राजनीतिक सिरदर्द चाहे जिसके हिस्से में आए, कश्मीर हमेशा की तरह कश्मीर रहेगा। कश्मीर में बसने वाले लोगों की अपनी रचनात्मक गतिविधियों के सिवा कश्मीर की तरक़्क़ी के लिए किसी और चीज़ की आवश्यकता नहीं।

क़ुरआन में हर चीज़ का ज़िक्र है, जो इंसान के लिए भलाई की हैसियत रखती है, मगर क़ुरआन में आज़ादी या स्वाधीनता का ज़िक्र नहीं मिलता। इसकी

---

* वह व्यक्ति जिसे ईश्वर का संदेश पहुँचाना है।

** ईश्वर का संदेश लोगों तक पहुँचाने वाला व्यक्ति।

वजह यह है कि आज़ादी मात्र एक छलपूर्ण शब्द है, इसकी कोई वास्तविक मौलिकता नहीं। इसका स्पष्ट व्यावहारिक प्रमाण यह है कि मौजूदा ज़माने में लगभग 60 मुस्लिम देश हैं, जिन्होंने ज़बरदस्त क़ुर्बानी के बाद आज़ादी हासिल कर ली, मगर यह सभी देश व्यवहारतः आज़ाद नहीं हैं। इसके निकटतम उदाहरण पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और बांग्लादेश आदि हैं। इन मुस्लिम देशों में यह हुआ कि आज़ादी की बाहरी लड़ाई अंत में सत्ता की आपसी लड़ाई बन गई। कश्मीरियों का भी यही अंजाम होगा। या तो वे अपनी तथाकथित आज़ादी की जंग जारी रखें जिसका अंतिम परिणाम केवल यह है कि बाहरी लड़ाई अंदरूनी लड़ाई की घातक स्थिति धारण कर ले और या फिर वे अपनी वर्तमान राजनीतिक लड़ाई को समाप्त करके अपने समस्त प्रयासों को निर्माण व उन्नति के काम में लगा दें।

जुलाई, 2001 के अंत में मैं स्विट्ज़रलैंड में था। यह यात्रा एक अंतर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस के निमंत्रण पर हुई। वह लोग हमें स्विट्ज़रलैंड के विभिन्न स्थानों पर ले गए और इस प्रकार हमें स्विट्ज़रलैंड के ज़्यादातर हिस्से को देखने का अवसर मिला। हमारी टीम में एक 80 वर्षीय कश्मीरी महिला भी थीं। उन्होंने जब स्विट्ज़रलैंड को देखा तो सहसा रोने लगीं। उनकी ज़ुबान से निकला कि हमारा कश्मीर भी ऐसा ही सुंदर था, मगर आज वह तबाह हो चुका है।

कश्मीर को किसने तबाह किया? कश्मीर की तबाही का ज़िम्मेदार कोई राज्य नहीं, इसकी ज़िम्मेदारी समस्ततर उन नादान लीडरों की है, जिन्होंने अपने उत्तेजक भाषणों और लेखों से कश्मीरी नौजवानों को भड़काया और उन्हें विनाशकारी जंग के मार्ग पर डाल दिया। ये लीडर अगर कश्मीरी नवयुवकों को शिक्षा और निर्माण के मार्ग पर डालते तो आज कश्मीर शायद स्विट्ज़रलैंड से भी बेहतर होता, मगर अयोग्य मार्गदर्शकों के अयोग्य मार्गदर्शन ने कश्मीर को इतनी बड़ी हानि पहुँचाई है, जिसकी क्षतिपूर्ति के लिए शायद एक शताब्दी भी अपर्याप्त हो।

आवश्यकता है कि अब कश्मीर की जनता व लीडरों को लड़ाई के मार्ग को पूर्ण रूप से और सदैव के लिए छोड़ दे। वह शांतिपूर्ण तरीक़े को अपना लें। अगर कश्मीर के लोग हक़ीक़ी फ़ैसले के साथ इस रचनात्मक मार्ग को अपना लें तो वही वह समय होगा, जबकि कश्मीर की घाटियों में हर तरफ़ यह आवाज़ सुनाई दे— जाग उठा कश्मीर।

शब्दावली

हदीस : हज़रत मुहम्मद के कथन, कर्म एवं मार्गदर्शन।
ईमान : ईश्वर द्वारा अपने पैग़ंबर के ज़रिए भेजे गए संदेश पर दृढ़ विश्वास।
नफ़्स : चित्त, मन, इच्छा।
अमल : कर्म; किसी व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला अच्छा या बुरा काम।
वह्य : ईश्वर का वह संदेश, जो पैग़ंबरों को फ़रिश्ते जिब्रील द्वारा भेजा जाता था।
मक्की दौर : मक्का में व्यतीत समय।
उमरह : वार्षिक तारीख़ों को छोड़कर साल में कभी भी किया जाने वाला हज।
अमर-ए-मौऊद : वह चीज़ जिसका ईश्वर ने वादा किया है। यह प्रयत्न से नहीं, बल्कि योग्यता के फलस्वरूप मिलती है।
फ़ितना : उपद्रव; धार्मिक उत्पीड़न।
आयत : क़ुरआन का कोई वाक्य; क़ुरआन की सबसे छोटी ईकाई।
ख़िलाफ़त : हज़रत मुहम्मद के उत्तराधिकारी का पद।
सुन्नत : तरीक़ा, पद्धति; वह काम जो हज़रत मुहम्मद ने किया हो।
शरीअत : इस्लामिक क़ानून।
फ़िक़्ह : इस्लामिक धर्मशास्त्र।
इमाम : नेतृत्वकर्ता, मार्गदर्शन करने वाला।
मोमिन : सच्ची निष्ठा से ईश्वर के आदेशों का पालन करने वाला ईश्वरभक्त।
तक़वा : ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा तथा भय रखते हुए दुष्कर्मों एवं बुराइयों से परहेज़ करना।
उम्मत : ईश्वर की ओर से नियुक्त पैग़ंबर को मानने वाला समुदाय।
रिज़्क़ : जीविका, आहार।
फ़रिश्ता : ईश्वर की आज्ञानुसार काम करने वाला देवदूत।
सलाम : इस्लामिक रीति-रिवाज के अनुसार अभिवादन करना।
ख़लीफा : नेतृत्व करने वाला; इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद का उत्तराधिकारी।
बिदअत : अपनी इच्छानुसार इस्लाम धर्म में किसी चीज़ को सम्मिलित करना।

निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा : हज़रत मुहम्मद द्वारा निर्धारित व्यवस्था।

दावत : ईश्वर के संदेश से परिचित कराना।

क़यामत : सृष्टि के अंत एवं विनाश का दिन।

ख़िलाफ़त-ए-राशिदा : हज़रत मुहम्मद के पहले चार उत्तराधिकारियों का समय एवं उनकी कार्य-प्रणाली।

दारुल हर्ब : वह देश जिनसे किसी मुस्लिम देश की संधि नहीं है और उनसे जंग करना वैध है।

इज्तिहाद : जहाँ क़ुरआन और हदीस से कोई मामला स्पष्ट न हो पाए, वहाँ अपनी राय से उचित रास्ता निकालना।

दारुल इस्लाम : इस्लाम के मानने वालों का घर।

दारुल दावह : इस्लाम से परिचित होने वालों का घर।

मदऊ : वह व्यक्ति जिसे ईश्वर का संदेश पहुँचाना है।

दाई : ईश्वर का संदेश लोगों तक पहुँचाने वाला व्यक्ति।

शांति की ओर

पैगंबर-ए-इस्लाम ने फ़रमाया : “यदि कोई शासक चाहे तुम्हारे लिए ज़ालिम हो, वह तुम्हारी पीठ पर कोड़े मारे और तुम्हारा माल छीन ले, तब भी तुम उसकी आज्ञा का पालन करो।” और दूसरी ओर आपने यह भी कहा : “श्रेष्ठ जिहाद यह है कि कोई व्यक्ति अत्याचारी राजा के सामने सच बात कहे।”

इन दोनों हदीसों पर ग़ौर करने से मालूम होता है कि किसी को कोई शासक अत्याचारी दिखाई दे, तब भी इसके लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा जिस हद तक जाने की अनुमति है, वह केवल बातचीत द्वारा सुझाव (advice) देना है, न कि व्यवहारतः विरोधपूर्ण राजनीति करना या शासक को हटाने की कोशिश करना, क्योंकि जंग या टकराव की सबसे बड़ी हानि यह है कि यह काम के अवसरों को बाधित करता है। इसके मुक़ाबले में अमन का सबसे बड़ा फ़ायदा यह है कि यह काम के अवसरों को अंतिम सीमा तक खोल देता है। जंग या टकराव से हमेशा और ज़्यादा नुक़सान होता है और अमन से हमेशा और ज़्यादा फ़ायदा। यही कारण है कि इस्लाम हर क़ीमत पर और अंतिम सीमा तक जंग और टकराव से बचने की शिक्षा देता है और अमन को हर क़ीमत पर क़ायम करने का आदेश देता है।

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान ‘सेंटर फॉर पीस एंड स्प्रिचुएलिटी’, नई दिल्ली के संस्थापक हैं। मौलाना का मानना है कि शांति और आध्यात्मिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं : आध्यात्मिकता शांति की आंतरिक संतुष्टि है और शांति आध्यात्मिकता की बाहरी अभिव्यक्ति। विश्व-शांति में अपने महत्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान प्राप्त है।

CPS International
centre for peace & spirituality
cpsglobal.org

Goodword
goodwordbooks.com

ISBN 978-93-89766-03-5
9 789389 766035
₹ 90.00